प्रकृति के नियम

एक अमोघ न्याय

कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

इस ग्रंथ की विषयवस्तु में जिज्ञासु पाठकगण अपने निकटस्थ किसी भी इस्कॉन केन्द्र से अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करने के लिए आमंत्रित हैं :

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
हरे कृष्ण धाम
जुहू, मुंबई ४०० ०४९

वेब / ई-मेल :
www.indiabbt.com
admin@indiabbt.com

The Laws Of Nature (Hindi)

1st printing : 10,000 copies
2nd to 16th printings : 4,00,000 copies
17th Printing, March 2015 : 1,00,000 copies

© १९९७ भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
सर्वाधिकार सुरक्षित

ISBN: 978-93-82716-59-4

प्रकाशक की अनुमति के बिना इस पुस्तक के किसी भी अंश को पुनरुत्पादित, प्रतिलिपित नहीं किया जा सकता। किसी प्राप्य प्रणाली में संग्रहित नहीं किया जा सकता अथवा अन्य किसी भी प्रकार से चाहे इलेक्ट्रोनिक, मेकेनिकल, फोटोकॉपी, रिकार्डिंग से संचित नहीं किया जा सकता। इस शर्त का भंग करने वाले पर उचित कानूनी कार्यवाही की जाएगी।

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित।

ET6N

विषय-सूची

भूमिका ..... *vii*

१. ईश्वर तथा कर्म का नियम **१**
कर्म बन्धनों को तोड़ना ६
नियंता एवं सर्वेश्वर कृष्ण १२
ईश्वर तथा उनकी शक्तियाँ २१
कृष्ण की स्थिति २४
कृष्ण : ऊपरी विरोधाभास २७
भगवान् तथा उनकी शक्ति—एक एवं भिन्न ३१
परम शुद्ध कृष्ण ३५
शरीर की सीमाओं के परे ३६
आध्यात्मिक तथा भौतिक शिक्षा ३९
ज्ञान बनाम अविद्या ४२
ईश्वर को जानने की विधि ४५
ब्रह्म के श्वेत प्रकाश से परे ५३

२. दुष्कर्म **५८**

३. शान्ति का सूत्र **८९**

लेखक परिचय **९३**

फल नहीं मिलेगा और मृत्यु के समय आप वापस कृष्ण के पास चले जाएँगे। कर्म के बंधन को तोड़ने का यही एकमात्र उपाय है।''

और पूर्वचर्चित दु:खों का नाश करने का समस्त समाज के लिए केवल यही रास्ता है। जब तक हम इस संसार में हैं, दु:ख से पूर्णरूपेण छुटकारा पाना संभव नहीं है, क्योंकि जैसा कि वैदिक शिक्षाओं में माना गया हैं यह भौतिक जगत स्वाभाविक रूप से दु:खों का घर है। अन्तत:, हम प्राकृतिक शक्तियों के विशाल व्यूह के बीच बेबस हैं। अत: एकमात्र सांत्वना यही रह जाती है कि हम प्रकृति के स्वामी परमेश्वर की इच्छा को जानें और इनका अनुकरण करें। केवल इसी मार्ग से हम प्रकृति के नियमों से परे हो सकेंगे, जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट सकेंगे एवं भगवत्प्रेम तथा भगवद्धाम में निवास पाने की जीवन की परम सिद्धि को प्राप्त कर सकेंगे।

* * *

१
ईश्वर तथा कर्म का नियम

वेदों के रूप मे प्रचलित विपुल प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में से, १०८ उपनिषद् दार्शनिक सार से युक्त हैं। और समस्त उपनिषदों में ईशोपनिषद् सर्वोपरि मानी जाती है। सन् १९६८ में श्रील प्रभुपाद द्वारा ईशोपनिषद् पर दी गई वार्ताओं पर आधारित इस निबन्ध में हम परमेश्वर विषयक सत्य, उनके भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों को नियमित करने वाले नियमों तथा कर्म के बन्धन को तोड़ कर मुक्त होने के विषय में जानकारी पाते हैं।

ईशोपनिषद् बतलाती है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ''परिपूर्ण और संपूर्ण'' हैं। सृजन, पालन तथा संहार की प्रक्रिया भौतिक जगत की उनकी संपूर्ण योजना का एक भाग है। इस भौतिक जगत में हर जीव में छह स्थायी अवस्थाओं में परिवर्तन होते हैं—जन्म, वृद्धि, पालन, उपोत्पादों की उत्पत्ति, ह्रास तथा विनाश। यह भौतिक प्रकृति का नियम है। फूल कली के रूप में जन्मता है; फिर बढ़ता है; दो-तीन दिनों तक ताजा बना रहता है; बीज उत्पन्न करता है; धीरे धीरे मुर्झाता है और तब नष्ट हो जाता है। आप इसे अपने तथाकथित

भौतिक विज्ञान से नहीं रोक सकते। ऐसा करने का प्रयास करना अविद्या है।

कभी कभी लोग मूर्खतावश सोचते हैं कि वैज्ञानिक प्रगति से मनुष्य अमर हो जाएगा। यह बकवास है। आप भौतिक नियमों को रोक नहीं सकते। इसलिए *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि भौतिक शक्ति *दुरत्यया* है, अर्थात् इसे भौतिक उपायों से जीत पाना असम्भव है।

भौतिक प्रकृति तीन गुणों वाली है। ये हैं—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगण। गुण का अन्य अर्थ है "रस्सी"। रेशों को तीन तरह से बट कर रस्सी तैयार की जाती है। सर्वप्रथम रेशे को तीन छोटे तन्तुओं में बटा जाता है, फिर ऐसे तीन तन्तुओं को एकसाथ बटा जाता है और अन्त में ऐसे और तीन को फिर एकसाथ बट दिया जाता है। इस तरह रस्सी अत्यन्त मजबूत बन जाती है। इसी तरह प्रकृति के तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो—को मिला दिया जाता है जिससे उनसे कोई न कोई उपोत्पाद बनता है। इसके बाद उन्हें पुनः पुनः मिलाया जाता है। इस तरह उन्हें असंख्य बार इकठ्ठे "बट" दिया जाता है।

इस तरह भौतिक शक्ति आपको अधिकाधिक बाँधती रहती है। आप अपने प्रयासों से इस बन्धन से, जो *पवर्ग* कहलाता है, छूट नहीं सकते। *पवर्ग* संस्कृत देव-नागरी वर्णमाला में पाँचवाँ वर्ण-समूह है। पवर्ग में प, फ, ब, भ तथा म ये पाँच अक्षर आते हैं। 'प' परिश्रम को सूचित करता है। इस जगत में हर जीव अपने उदर पोषण तथा अपना जीवन टिकाए रखने के लिए संघर्ष करता है। यह घोर जीवन-

संघर्ष कहलाता है। 'फ' फेन को बताने वाला है। जब घोड़ा कड़ी मेहनत करता है, तो उसके मुख से झाग (फेन) निकलता है। इसी तरह जब हम कठिन परिश्रम करके थक जाते हैं तो हमारी जीभ सूख जाती है और हमारे मुँह में झाग बनने लगता है। सारे व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति हेतु अत्यधिक श्रम कर रहे हैं, यहाँ तक कि उनके मुख से झाग निकलने लगता है। 'ब' बन्धन के लिए आया है। हम अपने समस्त प्रयासों के बावजूद भी प्रकृति की भौतिक गुण-रूपी रस्सियों से बँधे रहते हैं। और 'भ' भय को बताता है। भौतिक जीवन में मनुष्य भय की प्रज्वलित अग्नि में जलता रहता है, क्योंकि कोई यह नहीं जानता कि आगे क्या होगा। 'म' मृत्यु का सूचक है। इस जगत में सुख तथा सुरक्षा की हमारी सारी आशाएँ तथा योजनाएँ मृत्यु के द्वारा चौपट हो जाती हैं।

इस तरह कृष्णभावनामृत इस *पवर्ग* विधि को ध्वस्त कर देता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत ग्रहण करने पर मनुष्य को *अपवर्ग* प्राप्त होता है, जिसमें न तो तीव्र जीवन-संघर्ष रहता है, न भौतिक बन्धन, न भय और न मृत्यु रहते हैं। *पवर्ग* इस भौतिक जगत का लक्षण बताने वाला है, किन्तु जब उसमें 'अ' उपसर्ग जोड़ दिया जाता है तो उसका अर्थ होता है कि *पवर्ग* ध्वस्त हो गया। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन *अपवर्ग* का मार्ग है।

दुर्भाग्यवश लोग इन बातों को नहीं जानते; फलतः वे अपना जीवन व्यर्थ गँवा रहे हैं। यह आधुनिक सभ्यता आत्मा की हत्या करने वाली सभ्यता है। लोग अपनी ही हत्या किये जा रहे हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि असली जीवन क्या है। वे मात्र पशुओं की तरह

जी रहे हैं। पशु यह नहीं जानता कि जीवन क्या है; फलतः वह क्रमिक विकास करते हुए प्रकृति के नियमों के अधीन कार्य करता रहता है। किन्तु जब आपको यह मनुष्य का जीवन मिल जाता है, तो आपकी जिम्मेदारी भिन्न तरीके से जीवित रहने की हो जाती है। यहीं पर आपको कृष्णभावनाभावित बनने का तथा सारी समस्याओं को हल करने का अवसर मिलता है। किन्तु यदि आप ऐसा नहीं करते—यदि आप पशुओं की तरह ही कार्य करते रहते हैं—तो आपको पुनः जन्म-मृत्यु के चक्र में फिर पड़ कर ८४,००,००० योनियों में से होकर देहान्तर करना पड़ेगा। पुनः मनुष्य-जीवन पाने में लाखों वर्ष लग जाएँगे। उदाहरणार्थ, आप जिस सूर्य-प्रकाश को इस समय देख रहे हैं, उसे आप चौबीस घण्टे के बाद ही दोबारा देख सकेंगे। प्रकृति में हर वस्तु एक चक्र में घूमती है। अतः यदि आप अपने को ऊपर उठाने के इस अवसर को गँवा देते हैं, तो आपको देहान्तरण के चक्र में पुनः प्रवेश करना पड़ेगा। प्रकृति का नियम बड़ा प्रबल है। इसलिए हम अनेक केन्द्र खोल रहे हैं, जिससे लोग इस अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ का लाभ उठा कर अपने को उन्नत कर सकें।

कृष्णभावनामृत को तुरन्त ही ग्रहण कर लेना आवश्यक है, क्योंकि हम यह नहीं जानते कि मृत्यु आने में कितना समय शेष रह गया है। जब इस शरीर में आपका समय समाप्त हो जायेगा, तो आपकी मृत्यु को कोई रोक नहीं सकता। भौतिक प्रकृति की व्यवस्था इतनी प्रबल है कि आप यह नहीं कह सकते, "मुझे रहने दें।" वस्तुतः लोग कभी कभी ऐसी याचना करते हैं। जिस समय मैं इलाहाबाद में था तो मेरा एक पुराना मित्र, जो अत्यन्त धनी था, मर

रहा था। उस समय उसने डॉक्टर को याचना की, "क्या आप मुझे कम से कम चार वर्ष और जिन्दा नहीं रख सकते? मैं अपनी कुछ योजनाओं को पूरा नहीं कर पाया।" देखा आपने! यह है मूर्खता। हर व्यक्ति सोचता है, "मुझे यह करना है, मुझे वह करना है।" किन्तु न तो डॉक्टर न ही विज्ञानी मृत्यु को रोक सकते हैं : "नहीं महोदय! चार वर्ष तो क्या चार मिनट भी नहीं। आपको तुरन्त जाना है।" यह है नियम। अतः इससे पूर्व कि वह क्षण आए, मनुष्य को कृष्णभावनामृत का साक्षात्कार कर लेने के लिए सचेष्ट हो जाना चाहिए। आपको अति शीघ्र ही कृष्णभावनाभावित हो जाना चाहिए। इसके पूर्व कि आपकी अगली मृत्यु आए, आपको अपना कार्य समाप्त कर लेना चाहिए। यही बुद्धिमानी है, अन्यथा आपको हार खानी पड़ेगी।

ईशोपनिषद् बतलाती है कि परम पूर्ण-परमेश्वर से जो भी उद्भूत होता है, वह स्वयं में पूर्ण होता है। इसलिए यदि आप अपने जीवन का लाभ उठाना चाहते हैं और कृष्णभावनाभावित बनना चाहते हैं, तो इसकी पूरी सुविधा प्राप्त है। लेकिन आपको इसे व्यवहार-रूप में ग्रहण करने के बिन्दु तक आना होगा। कृष्णभावनामृत सैद्धान्तिक नहीं, व्यावहारिक है। सारे प्रयोग पहले ही किये जा चुके हैं। इसलिए, जैसा कि ईशोपनिषद् में दर्शाया हुआ है, छोटी छोटी पूर्ण इकाइयों को अर्थात् हम सबों को परम पूर्ण कृष्ण की अनुभूति करने के लिए पूर्ण सुविधा है। हम पूर्ण इकाइयाँ हैं, लेकिन लघु हैं। उदाहरणार्थ, एक बड़ी मशीन में एक छोटा पेंच होता है, किन्तु इस पेंच की पूर्णता इसमें है कि वह अपने सही स्थान में लगा हो। तभी उसका महत्त्व है। किन्तु यदि वह

मशीन से खुल कर फर्श पर गिर जाये, तो उसका कोई महत्त्व नहीं है। इसी तरह जब तक हम कृष्ण से जुड़े रहते हैं, तब तक पूर्ण हैं, अन्यथा हम व्यर्थ हैं।

पूर्ण की अनुभूति होने का अर्थ यह अनुभव करना है कि पूर्ण के साथ हमारा सम्बन्ध क्या है। पूर्ण का अपूर्ण ज्ञान होने के कारण ही सभी प्रकार की अपूर्णता का अनुभव किया जाता है। हम सोच रहे हैं, "मैं ईश्वर के तुल्य हूँ। मैं ईश्वर हूँ।" यह अपूर्ण ज्ञान है। किन्तु यदि आप यह जाने कि "मैं ईश्वर का ही अंश हूँ, अतएव गुण में ईश्वर के तुल्य हूँ।" तो यह पूर्ण ज्ञान है। मनुष्य जीवन जीव की चेतना को पुनरुज्जीवित करने के लिए एक अवसर है। आप कृष्णभावनामृत की विधि से इस पूर्ण चेतना को पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। किन्तु यदि आप इस पूर्ण सुविधा का लाभ नहीं उठाते, तो आप अपने को मार रहे हैं, आत्महत्या कर रहे हैं। *ईशोपनिषद्* में कहा गया है, "आत्मा के हन्ता को, वह चाहे जो भी हो, ऐसे लोकों में प्रवेश करना पड़ता है जिन्हें अश्रद्धा, पूर्ण अन्धकार तथा अज्ञान का जगत कहा जाता है।" अतः आप अपनी आत्मा के हत्यारे मत बनिये। आप अपने मनुष्य जीवन की पूर्ण सुविधा का उपयोग कृष्णभावनाभावित बनने में कीजिये। आपका एकमात्र कार्य यही है।

कर्म बन्धनों को तोड़ना

बद्धजीवन में हम पग-पग पर बिना जाने भी पाप कर रहे हैं। अनजाने पाप करने का कारण यह है कि हम जन्म से ही अज्ञान में

रहे हैं। यह अज्ञान इतने सारे शिक्षा संस्थानों के होते हुए भी विद्यमान है। क्यों? क्योंकि इतने सारे बड़े बड़े विश्वविद्यालयों के होते हुए भी इनमें से किसी में आत्मतत्त्व—आत्मा के विज्ञान की शिक्षा नहीं दी जाती। इसलिए लोग अज्ञान में पड़े रहते हैं और पाप करते रहते हैं तथा उनके फल भोगते हैं। इसका वर्णन श्रीमद्भागवत (५.५.३) में हुआ है—*पराभवस्तावदबोध जातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्*। यह मूर्खता तब तक चलती रहेगी, जब तक मनुष्य आत्म-साक्षात्कार को समझने के स्तर तक नहीं पहुँच जाता। अन्यथा ये सारे संस्थान, जो विद्या-दान के लिए हैं, उसी अज्ञान तथा मूर्खता को चालू रखे रहेंगे। जब तक कोई यह नहीं पूछता कि, "मैं क्या हूँ? ईश्वर क्या है? यह जगत क्या है? ईश्वर तथा इस जगत के साथ मेरा सम्बन्ध क्या है?" और जब तक उचित उत्तर नहीं पा लेता, तब तक वह पशु के समान नासमझ बना रहता है और उसे विभिन्न योनियों में देहान्तरण करना पड़ता है। यही अज्ञान का परिणाम है।

अतः आधुनिक सभ्यता बड़ी जोखिमपूर्ण है। कोई भले ही अपने को सफल व्यापारी या राजनीतिज्ञ सोच कर आराम महसूस कर ले या अमरीका जैसे धनी राष्ट्र में पैदा होने से अपने को सुखी अनुभव कर ले, किन्तु जीवन के ये पद अस्थायी हैं। उन्हें बदलना पड़ेगा और हम यह नहीं जानते कि हमारे पापकर्मों के कारण हमें अगले जीवन में कैसे कैसे कष्ट भोगने पड़ेंगे। अतः यदि इस दिव्य ज्ञान के अनुशीलन की शुरूआत नहीं की जाती, तो मनुष्य का जीवन अत्यन्त भयावह हो जाता है। मान लीजिए कि एक स्वस्थ व्यक्ति किसी प्रदूषित स्थान में रह रहा है। तो क्या उसका जीवन खतरे में

नहीं है? वह किसी भी क्षण रोग-ग्रस्त हो सकता है। इसलिए हमें दिव्य ज्ञान के अनुशीलन द्वारा अपने अज्ञान को मिटाने के लिए प्रयास करना चाहिए।

हम अनजाने में किस तरह पाप करते हैं, इसका एक अच्छा उदाहरण भोजन करने में है। *भगवद्गीता* (३.१३) में कृष्ण कहते हैं कि उनके भक्त पापों से मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि वे कृष्ण को अर्पित भोजन का बचा-खुचा ही खाते हैं। किन्तु वे कहते हैं कि जो लोग केवल अपने ही लिए भोजन पकाते हैं, वे केवल पाप खाते हैं। इस मन्दिर में तथा किसी सामान्य घर में भोजन बनाने तथा खाने में अन्तर यह है कि हमारा भोजन बनाना तथा भोजन करना हमें पापों से छुड़ाता है, जबकि अभक्त का भोजन बनाना तथा भोजन करना उसे पापों में अधिकाधिक फँसाता है। दोनों जगह भोजन बनाना तथा भोजन करना एकसा प्रतीत होता है, किन्तु दोनों में अन्तर है। यहाँ कोई पाप नहीं होता, क्योंकि भोजन कृष्ण के लिए बनाया तथा खाया जाता है।

कृष्णभावनामृत कार्यों के क्षेत्र से बाहर किया जाने वाला कोई भी कर्म आपको प्रकृति के गुणों में बाँधने वाला होता है। सामान्यतया आपको पापकर्मों में फँसाया जाता है। जो लोग थोड़े सतर्क रहते हैं, वे पापकर्मों से बचते हैं और पुण्यकर्म करते हैं। किन्तु जो पुण्यकर्म करता है, वह भी उलझता है। यदि मनुष्य पुण्यात्मा है, तो वह किसी धनी या राजसी परिवार में जन्म पा सकता है या वह अति सुन्दर हो सकता है या अत्यन्त विद्वान बनने का अवसर पा सकता है। ये पुण्यकर्मों के फल हैं। किन्तु आप पुण्यात्मा हों या पापी, आपको

किसी न किसी माता के गर्भ में प्रवेश करना पड़ता है और यह यातना बहुत ही कठोर होती है। इसे हम भूल चुके हैं। आप चाहे अत्यन्त धनवान् तथा राजसी कुल में जन्म लें या किसी पशु के गर्भ से जन्म लें, जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु की पीड़ा तो उठानी ही होगी।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन आपको जन्म, मृत्यु, जरा, तथा व्याधि—इन चार समस्याओं के निवारण का अवसर प्रदान करने के निमित्त है। किन्तु यदि आप पापकर्म करते जाएं और पाप की रोटी खाते रहें, तो ये कष्ट जैसे के तैसे बने रहेंगे। अन्यथा आप कृष्ण की शरण में जाकर अपने पापफलों को निर्मूल कर सकते हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* (१८.६६) में कृष्ण स्वयं कहते हैं, "अपने तथाकथित सभी धार्मिक कृत्यों को त्याग दो और मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हारे सारे पापफलों से तुम्हें बचा लूँगा।" कृष्ण के शरणागत होने का एक अंश यह है कि ऐसी कोई वस्तु न खाई जाये, जो उन्हें अर्पित न की गई हो। ऐसा हमारा संकल्प होना चाहिए। यदि हमने कुछ पाप किया भी हो, तो हम *प्रसाद* खाकर उसका प्रायश्चित्त कर लेंगे। यदि हम इस तरह से कृष्ण की शरण लें, तो वे हमारे पापफलों से हमें बचाएँगे। यह उनका वादा है।

और ऐसा शरणागत भक्त मृत्यु के समय कहाँ जाता है? क्या वह समाप्त हो जाता है, जैसा कि शून्यवादी कहते हैं? नहीं। कृष्ण कहते हैं—*मामेति*—"वह मेरे पास आता है।" और वहाँ जाने का लाभ क्या होता है? *मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयम् अशाश्वतम् नाप्नुवन्ति*—"जो मेरे पास वापस आ जाता है, उसे इस दुःखी भौतिक संसार में लौटना नहीं पड़ता।" यही सर्वोच्च सिद्धि है।

ईशोपनिषद् कहती है, "आत्महन्ता चाहे वह जो कोई भी हो, उसे अन्धकार तथा अज्ञान से पूर्ण श्रद्धाविहीनों के लोकों में प्रवेश करना होता है।" कृष्ण असुरों के लिए सिंह तथा भक्तों के लिए मेमना हैं। नास्तिक कहते हैं, "हमने कृष्ण को नहीं देखा है।" हाँ, तुम कृष्ण को देखोगे—मृत्यु के समय—जब वे अन्ततः तुम्हें बंदी बनाने आएँगे तो तुम उन्हें मृत्यु के सिंह के रूप में देखोगे, "ओ!" नास्तिक कृष्ण को मृत्यु रूप में देखता है। और आस्तिक या भक्त कृष्ण को अपने प्रेमी के रूप में, मेमने के समान विनम्र देखता है।

वस्तुतः हर व्यक्ति कृष्ण की सेवा में लगा रहता है, चाहे प्रेमवश हो या बाध्यतावश। जो भौतिक जीवन में फँसा हुआ है, वह कृष्ण की सेवा में संलग्न है, क्योंकि उसे कृष्ण की बहिरंगा भौतिक शक्ति की सेवा करने के लिए बाध्य किया गया है। यह वैसा ही है, जैसा कि हम किसी राज्य के नागरिकों के साथ होता देखते हैं—कोई चाहे नियमपालक नागरिक हो या अपराधी, वह राज्य के अधीन ही होता है। अपराधी यह कह सकता है कि उसे राज्य की परवाह नहीं है, किन्तु तब पुलिस उसे बन्दी बनाकर राज्य की सत्ता स्वीकार करने पर विवश कर देगी।

इसलिए कोई चाहे चैतन्य महाप्रभु के इस दर्शन को माने या ठुकराए कि हर जीव कृष्ण का नित्य सेवक है, वह उनका सेवक बना रहता है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि नास्तिक से कृष्ण को उसके स्वामी के रूप में मानने के लिए बाध्य किया जाता है और भक्त स्वेच्छा से उनकी सेवा करता है। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को यह शिक्षा देता है कि वे ईश्वर के नित्य दास हैं और उन्हें स्वेच्छा

से उनकी सेवा करनी चाहिए—"तुम यह झूठा दावा न करो कि तुम ईश्वर हो। अरे, क्या तुम ईश्वर की परवाह नहीं करते? तुम्हें करनी पड़ेगी।" महान् असुर हिरण्यकशिपु ने भी ईश्वर की परवाह नहीं की थी, अतः ईश्वर ने आकर उसे मार डाला। नास्तिक को ईश्वर मृत्यु रूप में दिखते हैं, किन्तु आस्तिक को प्रेमी के रूप में। यही अन्तर है।

यदि आप भक्त हैं और आध्यात्मिक जीवन के इस दर्शन को समझते हैं, तो फिर आप चाहे क्षण भर जीवित रहें या एक सौ वर्ष—इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्यथा जीवित रहने से क्या लाभ? कुछ वृक्ष पाँच सौ या पाँच हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं, किन्तु उच्चतर चेतना से विहीन ऐसे जीवन से क्या लाभ?

यदि आप जानते हैं कि आप कृष्ण के सेवक हैं और प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है, तो आप सैकड़ों वर्ष अपना कार्य करते हुए जीवित रह सकते हैं और कोई कर्म-बन्धन का फल नहीं होगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (३.९) में की गई है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—"कृष्ण के लिए किये गये कर्म के अतिरिक्त कोई भी कर्म, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, इस भौतिक जगत से बाँधने वाला है।" यदि आप अच्छा कर्म करते हैं, तो आपको अगले जन्म में तथाकथित सुख प्राप्त होगा, किन्तु फिर भी आप जन्म-मृत्यु के चक्र में बँधे रहेंगे। और यदि आप दुष्कर्म करेंगे, तो आपको पापफल भोगने होंगे और जन्म-मृत्यु के चक्र में भी बंधे रहना पड़ेगा। किन्तु यदि आप कृष्ण के लिए कर्म करते हैं, तो अच्छा या बुरा कोई फल नहीं मिलता और मृत्यु के समय आप कृष्ण के पास लौट जाएँगे। कर्मबन्धनों को तोड़ने का एकमात्र यही उपाय है।

नियंता एवं सर्वेश्वर कृष्ण

ईशोपनिषद् में *ईश* शब्द का उपयोग पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का वर्णन करने के लिए हुआ है। *ईश* का अर्थ है "नियन्ता।" आप अपने को नियन्त्रित मानते हैं या नहीं? क्या इस ब्रह्माण्ड में कहीं भी कोई ऐसा व्यक्ति है जो नियन्त्रित न हो? क्या कोई कह सकता है कि "मैं नियन्त्रित नहीं हूँ?" ऐसा कोई नहीं कह सकता। अत: यदि आप नियन्त्रित हैं, तो फिर आप यह क्यों घोषित करते हैं, "मैं नियन्त्रित नहीं हूँ। मैं स्वतन्त्र हूँ। मैं ईश्वर हूँ?" यह बकवास क्यों? मायावादी निर्विशेषवादी दावा करते हैं, "मैं ईश्वर हूँ, तुम ईश्वर हो, हर व्यक्ति ईश्वर है।" किन्तु यदि वे नियन्त्रित हैं, तो फिर वे ईश्वर किस तरह हो सकते हैं? क्या इसका कोई अर्थ है? ईश्वर कभी भी नियन्त्रित नहीं होते। वे परम नियन्ता या नियामक हैं। अत: यदि कोई नियन्त्रित है, तो हमें तुरन्त यह जान लेना चाहिए कि वह ईश्वर नहीं है।

निस्सन्देह, कुछ धूर्त दावा करते हैं कि वे नियन्त्रित नहीं हैं। मैं ऐसे एक धूर्त को जानता हूँ जिसने एक संघ बना रखा है और जो प्रचार करता है, "मैं ईश्वर हूँ।" लेकिन एक दिन मैंने देखा कि उसके दाँत में दर्द है और वह कराह रहा है, "उह!" अत: मैंने उससे पूछा, "तुम दावा करते हो कि तुम ईश्वर हो, परम नियन्ता हो, किन्तु इस समय तुम दाँत के दर्द के नियन्त्रण में हो। तुम किस तरह के ईश्वर हो?" अत: यदि आप ऐसे किसी व्यक्ति को देखें, जो अपने को ईश्वर मानता हो या यह मानता हो कि हर व्यक्ति ईश्वर है, तो तुरन्त जान लें कि ऐसा व्यक्ति अव्वल दर्जे का धूर्त है।

लेकिन कहने का मतलब यह नहीं कि जीव कुछ हद तक नियामक नहीं हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि सारे जीव उनकी उच्चतर शक्ति हैं। ये जीव उच्चतर शक्ति क्यों हैं? क्योंकि वे चेतन हैं जबकि भौतिक शक्ति ऐसी नहीं है। इसलिए जीव कुछ हद तक भौतिक शक्ति को नियन्त्रित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, इस मन्दिर की सारी साज-सामग्री पदार्थ से—पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु से बनाई गई है। किन्तु वह कोई जीव ही था जिसने भौतिक शक्ति को कृष्ण की पूजा करने के हेतु इस साज-सामग्री में ढाला। दूसरा उदाहरण है—यूरोप से लोगों के आने के पूर्व अमरीका की यह भूमि अधिकांश निर्जन थी। इसके पूर्व जो लोग यहाँ रह रहे थे, उन्होंने इसका पूर्ण दोहन नहीं किया था। किन्तु यूरोप वालों ने आकर सड़को और बड़े-बड़े उद्योगों के साथ इसे एक विकसित देश बना दिया।

अत: उच्चतर शक्ति अर्थात् जीव भौतिक शक्ति पर कुछ नियन्त्रण रख सकते हैं। इसकी व्याख्या कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.५) में की है—*ययेदं धार्यते जगत*। इस भौतिक जगत की महत्ता जीवों के कारण है। लास ऐंजिलिस, न्यूयार्क या लन्दन जैसे विशाल शहरों का महत्त्व तब तक है, जब तक जीव वहाँ रहते हैं। इसी तरह शरीर तभी तक मूल्यवान है, जब तक इसमें जीव—आत्मा—है। इसलिए आत्मा पदार्थ से श्रेष्ठ है। लेकिन इस श्रेष्ठता का दुरुपयोग इन्द्रिय-तृप्ति हेतु पदार्थ का शोषण करने में हो रहा है। यही बद्धजीवन है। हम यह भूल चूके हैं कि यद्यपि हम पदार्थ से श्रेष्ठ हैं, फिर भी हम ईश्वर के अधीन हैं।

आधुनिक सभ्यता के लोग ईश्वर की परवाह नहीं करते, क्योंकि वे अपने को पदार्थ से उत्कृष्ट समझ कर मदान्ध हो गए हैं। वे पदार्थ का विभिन्न प्रकारों से दोहन करने मात्र में लगे हैं। किन्तु वे यह भूल रहे हैं कि सारे लोग—अमरीकी, रूसी, चीनी, भारतीय—ईश्वर के अधीन हैं। वे कृष्ण को भूल चुके हैं और इस भौतिक जगत का भोग करना चाहते हैं। यही उनका रोग है।

इसलिए भगवद्भक्त का यह कर्तव्य है कि वह लोगों में कृष्णभावनामृत को जागृत करे। भक्त उन्हें बताता है, "तुम पदार्थ से श्रेष्ठ हो, किन्तु तुम कृष्ण के अधीन हो। अत: तुम्हें पदार्थ का भोग करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, प्रत्युत इसका उपयोग कृष्ण के भोग के लिए करना चाहिए।" उदाहरणार्थ, हमने इस मन्दिर को अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नहीं सजा कर रखा है, अपितु कृष्ण की प्रसन्नता के लिए किया है। तो हममें तथा सामान्य लोगों में क्या अन्तर है? वे अपने-अपने घरों को सुन्दर ढंग से सजा रहे हैं और हम भी अपने स्थान को सुन्दर ढंग से सजा रहे हैं, किन्तु प्रयोजन भिन्न भिन्न हैं। हम इसे कृष्ण के लिए कर रहे हैं और वे इसे अपने लिए कर रहे हैं। आप चाहे निजी घर को सजाएँ या कृष्ण-मन्दिर को, पदार्थ के ऊपर आपकी श्रेष्ठता बनी रहती है, क्योंकि आप पदार्थ का उपयोग अपने लिए कर रहे हैं। किन्तु जब आप अपनी बुद्धि को कृष्ण की प्रसन्नता हेतु पदार्थ का उपयोग करने में लगाते हैं तो आपका जीवन सफल हो जाता है जबकि उसी बुद्धि को अपनी इन्द्रियतृप्ति में लगाने पर आप भौतिक प्रकृति में फँसते जाते हैं और उलझन महसूस करते हैं। तब आपको एक के बाद एक शरीर बदलना होता है।

कृष्ण निकृष्ट शक्ति अर्थात् पदार्थ तथा उत्कृष्ट शक्ति अर्थात् हम जीवात्मा, दोनों के परम नियन्ता हैं। हम कृष्ण की श्रेष्ठ शक्ति हैं, क्योंकि हम भौतिक जगत को नियन्त्रित कर सकते हैं, लेकिन यह नियन्त्रण भी आंशिक है। इस भौतिक जगत पर हमारा नियन्त्रण केवल सीमित है। किन्तु कृष्ण का हम सबों पर नियन्त्रण है; इसलिए हमारे पास जितना भी नियन्त्रण है, वह उनके द्वारा प्रदत्त है। उदाहरणार्थ, मनुष्य ने अपने बुद्धि-बल से इस सुन्दर माईक्रोफोन को तैयार किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कुछ हद तक पदार्थ को नियन्त्रित कर सका है। किन्तु यह बुद्धि आई कहाँ से? मनुष्य को यह उत्कृष्ट बुद्धि कृष्ण ने प्रदान की है। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कृष्ण कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानम् अपोहनं च*—"मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती हैं।" इसलिए परम नियन्ता मनुष्य-शरीर के रूप में उत्कृष्ट शक्ति को बुद्धि प्रदान करते हैं। "इसे करो, अब उसे करो।" यह निर्देश मनमाना नहीं है। मनुष्य पिछले जन्म में कुछ करना चाहता था, किन्तु इस वर्तमान जीवन में वह उसे भूल जाता है; अत: कृष्ण उसे स्मरण दिलाते हैं, "तुम यह करना चाहते थे। यह रहा अवसर।" अत: आपके पास उत्कृष्ट बुद्धि होने पर भी उसका नियन्त्रण कृष्ण द्वारा किया जाता है। यदि कृष्ण आपको बुद्धि देते हैं, तो आप इस सुन्दर माइक्रोफोन को बना सकते हैं; अन्यथा आप नहीं बना सकते। इसलिए जीवन के हर क्षेत्र में हम कृष्ण द्वारा नियंत्रित होते हैं।

हम ब्रह्माण्ड-स्तर पर भी कृष्ण का नियन्त्रण देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, यहाँ अनेक विशाल ग्रह हैं; यह पृथ्वी तो मात्र एक छोटा ग्रह है। फिर भी इस ग्रह पर ऐटलान्टिक तथा प्रशान्त सागर जैसे महासागर हैं और बड़े बड़े पर्वत तथा गगनचुम्बी इमारतें हैं। इतने सारे बोझ के बावजूद भी यह पृथ्वी वायु में रुई के फाहे के समान तैर रही है। इसे कौन तैरा रहा है? क्या आप हवा में बालू के एक कण तक को तैरा सकते हैं? आप भले ही पृथ्वी के गुरुत्व के नियम तथा अन्य कई बातों की चर्चा करते रहें, किन्तु आप इसे नियन्त्रित नहीं कर सकते। आपका हवाई जहाज हवा में उड़ता है, किन्तु जैसे ही पेट्रोल समाप्त हो जाएगा, यह तुरन्त गिर पड़ेगा। अत: एक ऐसा जहाज जो हवा में अस्थायी रूप से ही तैर सकता है, यदि उसे बनाने में अनेक वैज्ञानिकों की जरूरत पड़ती है, तो क्या यह सम्भव है कि यह विशाल पृथ्वी अपने आप ही तैर रही है? नहीं। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (१५.१३) में घोषित करते हैं, "मैं भौतिक लोकों में प्रवेश करता हूँ और उन्हें ऊपर तैरने देता हूँ।" जिस तरह हवाई जहाज को उड़ाने के लिए पाइलट (चालक) को उसमें प्रवेश करना पड़ता है, उसी तरह इस पृथ्वी को तैरती रखने के लिए कृष्ण इसके भीतर प्रविष्ट हुए हैं। यह सहज सच्चाई है।

हमें कृष्ण से ज्ञान लेना होता है। हमें कृष्ण से या उनके प्रतिनिधि से श्रवण करने के अतिरिक्त ज्ञान प्राप्त करने की किसी अन्य विधि को स्वीकार नहीं करना चाहिए। तब हमें उच्चकोटि का ज्ञान प्राप्त होगा। यदि आपको ऐसा कोई प्राधिकारी मिले जो कृष्ण का प्रतिनिधित्व करता हो और जो विषयवस्तु पर बोल सकता हो

और यदि आप उसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान को स्वीकार करते हैं, तो आपका ज्ञान पूर्ण है। ज्ञान प्राप्त करने की समस्त विधियों में से सबसे कम विश्वसनीय विधि प्रत्यक्ष इन्द्रिय अनुभूति की है। मान लीजिये कि कोई पूछता है, "क्या आप मुझे ईश्वर का दर्शन करा सकते हैं?" इसका अर्थ यह हुआ कि वह हर वस्तु को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करना चाहता है। किन्तु यह ज्ञान प्राप्त करने की निम्न श्रेणी की विधि है, क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं और हममें त्रुटियाँ करने की सम्भावना है। मान लीजिये कि आपको कुछ स्वर्ण चाहिए, किन्तु आप यह नहीं जानते कि उसे कहाँ से खरीदा जाये। अत: आप किसी लोहे के व्यापारी के पास जाकर पूछते हैं, "क्या आपके पास सोना है?" वह तुरन्त समझ जाएगा कि आप अव्वल दर्जे के मूर्ख हैं, क्योंकि आप सोना खरीदने के लिए लोहे की दुकान में आये हैं। अत: वह आपको ठगने की कोशिश करेगा। वह आपको लोहे का टुकड़ा देकर कहेगा, "यह रहा सोना!" तब आप क्या कहेंगे? क्या आप उस लोहे को सोना मान लेंगे? चूँकि आप नहीं जानते कि सोना क्या होता है और उसको खरीदने के लिए आप लोहे की दूकान में गये हैं, अत: आपको लोहे का टुकड़ा मिलेगा और आप ठग लिए जाएँगे। इसी तरह वे धूर्त जो यह माँग करते हैं कि उन्हें ईश्वर का दर्शन कराया जाये, यह नहीं जानते कि ईश्वर क्या है, अत: वे अनेक नकली आध्यात्मिक नेताओं द्वारा ठगे जा रहे हैं, जो यह दावा करते हैं कि *वे* ईश्वर हैं। ऐसा हो रहा है।

यदि आप सोना खरीदना चाहते हैं, तो आपके पास सोने के विषय में कम से कम कुछ प्रारम्भिक जानकारी होनी चाहिए। इसी

तरह यदि आप ईश्वर का दर्शन करना चाहते हैं, तो पहली आवश्यकता यह है कि आप ईश्वर के कुछ मूलभूत लक्षणों को जानें। अन्यथा यदि आप किसी धूर्त के पास गये और वह अपने को ईश्वर होने का दावा करे और आप उसे ईश्वर मान लें तो आप ठग लिए जाएँगे।

जब कोई यह कहे कि "मैं ईश्वर को देखना चाहता हूँ" तो हमें जो दूसरा प्रश्न करना चाहिए, वह है "तुम्हारे पास ईश्वर का दर्शन करने की क्या योग्यता है?" ईश्वर इतने सस्ते नहीं हैं कि ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे उन्हें देख सकें। नहीं, कृष्णभावनामृत आन्दोलन कोई बेहूदी या सस्ती वस्तु प्रस्तुत नहीं करता। यदि आप आमने-सामने ईश्वर का दर्शन करना चाहते हैं, तो आपको विधि-विधानों का पालन करना होगा। आपको हरे कृष्ण कीर्तन करके अपने को शुद्ध करना होगा। तभी धीरे-धीरे ऐसा समय आएगा, जब आप शुद्ध हो जाएँगे और ईश्वर का दर्शन कर सकेंगे।

तब भी, आप यद्यपि अपनी वर्तमान कलुषित अवस्था में ईश्वर का दर्शन करने के योग्य नहीं हैं, वे इतने दयालु हैं कि वे मन्दिर में अपने अर्चाविग्रह के रूप में आपको अपना दर्शन करने की अनुमति देते हैं। उस रूप में उन्हें कोई भी देख सकता है, चाहे वह उसके ईश्वर होने के विषय में जानता हो अथवा नहीं। अर्चाविग्रह एक मूर्ति नहीं है। उनकी दिव्यता कोई कल्पना नहीं है। अर्चाविग्रह को तैयार करने तथा उन्हें वेदी में स्थापित करने का ज्ञान शास्त्र तथा वरिष्ठ आचार्यों या आध्यात्मिक गुरुओं से प्राप्त किया जाता है। अत: मन्दिर में प्रामाणिक अर्चाविग्रह स्वयं कृष्ण हैं और वे आपके प्रेम तथा सेवा का आदान-प्रदान पूर्ण रूप से कर सकते हैं।

फिर भी आप अपनी इन कुंठित भौतिक इन्द्रियों से ईश्वर के आध्यात्मिक रूप, नाम, गुण, लीलाओं तथा साज-सामग्री का तुरन्त अनुभव नहीं कर सकते। चूँकि वर्तमान सभ्यता में लोगों में न तो ईश्वर को समझने की शक्ति है, न ही उनका मार्गदर्शन कोई ऐसा व्यक्ति करता है, जो उन्हें ईश्वर को समझने में सहायक हो सके, इसलिए वे ईशविहीन हो गये हैं। किन्तु यदि आप किसी उच्च व्यक्ति के मार्गदर्शन में ईशोपनिषद् तथा भगवद्गीता जैसे वैदिक शास्त्रों को पढ़ें और विधि-विधानों का पालन करें, तो अन्तत: आपको ईश्वर का साक्षात्कार हो जाएगा। आप केवल अपने प्रयास से ईश्वर को देख या समझ नहीं सकते। आपको उस विधि के प्रति समर्पित होना पड़ता है, जिससे ईश्वर को जाना जा सकता है। तब वे अपने आपको प्रकट करेंगे। वे परम नियन्ता हैं और आप नियन्त्रित हो रहे हैं। अत: आप ईश्वर को कैसे नियन्त्रित कर सकते हैं? "हे ईश्वर! यहाँ आओ। मैं आपको देखना चाहता हूँ।" ईश्वर इतने सस्ते नहीं हैं कि वे आपके आदेश से चले आएँगे और आपको दिखने लगेंगे। नहीं, ऐसा सम्भव नहीं। आपको सदैव स्मरण रखना चाहिए. "ईश्वर परम नियन्ता हैं और मैं नियन्त्रित हूँ। अत: यदि मैं ईश्वर को अपनी सेवा से प्रसन्न कर सकूँ, तो वे मेरे समक्ष प्रकट होंगे।" ईश्वर को जानने की यही विधि है।

अन्ततोगत्वा, यह विधि ईश-प्रेम की ओर ले जाती है। यही असली धर्म है। आप चाहे हिन्दू, मुसलमान या ईसाई धर्म मानने वाले हों, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि आपमें ईश प्रेम विकसित हो रहा है, तो आप अपने धर्म में सही हो। और ईश्वर के प्रति हम किस तरह का प्रेम विकसित करें? इसमें किसी भी प्रकार का स्वार्थी उद्देश्य

नहीं होना चाहिए, "हे प्रभु! मैं आपसे प्रेम करता हूँ, क्योंकि आप मुझे अनेक सुन्दर वस्तुएं प्रदान करते हैं और आप मेरी माँग की पूर्ति करने वाले हैं। नहीं, हमें ईश्वर को इस प्रकार का प्रेम नहीं करना चाहिए। यह आदान-प्रदान पर निर्भर नहीं होना चाहिए।

भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने शिक्षा दी है, "हे प्रभु! आप चाहे मुझे अपने पैरों के नीचे कुचल दें, या मेरा आलिंगन करें या मेरे समक्ष प्रस्तुत न होकर मेरा दिल तोड़ दें, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। आप कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र हैं, क्योंकि आप बिना किसी शर्त के मेरे आराध्य देव हैं।" यह है प्रेम। हमें यही सोचना चाहिए कि, "ईश्वर जो भी चाहें करें, फिर भी मैं उनसे प्रेम करूँगा। मुझे बदले में कुछ नहीं चाहिए।" कृष्ण को ऐसा प्रेम चाहिए। इसीलिए वे गोपियों को इतना चाहते हैं। गोपियों के प्रेम में ऐसे व्यापारिक आदान-प्रदान का प्रश्न ही नहीं रहता कि, "आप मुझे यह दीजिये, तो मैं आपसे प्रेम करूँगी।" उनका प्रेम शुद्ध, अमिश्रित था जिसमें कोई अवरोध न था। यदि आप ईश्वर से इसी प्रकार प्रेम करने का प्रयास करें, तो विश्व की कोई भी वस्तु आपको रोक नहीं सकती। बस, आपको अपने में यह उत्सुकता विकसित करनी होगी कि "हे कृष्ण! मैं आपको चाहता हूँ," बस। तब फिर उसके रोके जाने का प्रश्न ही नहीं है। आपका प्रेम हर हालत में बढ़ता जाएगा। यदि आप यह अवस्था प्राप्त कर लें, तो आप पूर्ण संतोष का अनुभव करेंगे। ऐसा नहीं है कि ईश्वर अपने लाभ के लिए आपसे प्रेम करवाना चाहते हैं। यह तो आपके लाभ के लिए है। यदि आप इसके विपरीत करेंगे, तो आप कभी सुखी नहीं हो सकेंगे।

ईश्वर तथा उनकी शक्तियाँ

ईशोपनिषद् बतलाती है कि हम चेतन या जड़ जो कुछ भी देखते हैं, वह परमेश्वर द्वारा नियन्त्रित है। यही बात *भगवद्गीता* (९.१०) में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि उनकी शक्तियाँ सारी वस्तुओं का प्रबन्धन करती हैं। विष्णुपुराण पुष्टि करता है—*एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा*—जिस तरह एक स्थान पर रखी अग्नि के चारों ओर ऊष्मा तथा प्रकाश फैलते हैं, उसी तरह यह सम्पूर्ण सृष्टि भगवान् से विस्तीर्ण होने वाली शक्तियों की अभिव्यक्ति है। उदाहरणार्थ, सूर्य एक स्थान पर है, किन्तु यह अपनी ऊष्मा तथा प्रकाश को सारे ब्रह्माण्ड में वितरित कर रहा है। इसी तरह परमेश्वर अपनी भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों को सम्पूर्ण सृष्टि में बिखेर रहे हैं।

आध्यात्मिक शक्ति इस अस्थायी भौतिक जगत में विद्यमान है, किन्तु यह भौतिक शक्ति से ढकी हुई रहती है। उदाहरणार्थ, सूर्य सदैव आकाश में चमकता है—कोई उसे चमकने से रोक नहीं सकता—किन्तु कभी-कभी यह बादल से आच्छादित हो जाता है। जब ऐसा होता है, तो पृथ्वी पर सूर्यप्रकाश मन्द हो जाता है। सूर्य जितना ही अधिक आच्छादित रहता है, सूर्यप्रकाश उतना ही मन्द हो जाता है। किन्तु सूर्य का यह आच्छादन आंशिक होता है। सम्पूर्ण सूर्यप्रकाश को आच्छादित नहीं किया जा सकता। यह सम्भव नहीं है। सूर्यप्रकाश का एक नगण्य अंश बादल से आच्छादित हो सकता है। इसी तरह यह भौतिक जगत उस आध्यात्मिक जगत का एक नगण्य अंश है, जो भौतिक शक्ति द्वारा आच्छादित है।

और वह भौतिक शक्ति क्या है? यह भौतिक शक्ति आध्यात्मिक शक्ति का एक अन्य रूप है। जब आध्यात्मिक सक्रियता का लोप होता है, तब यह प्रकट होती है। पुनः सूर्य तथा बादल का दृष्टान्त लेते हैं—बादल क्या है? यह सूर्यप्रकाश का प्रभाव है। सूर्यप्रकाश से समुद्र का जल भाप बनता है और यह बादल बन जाता है। इस प्रकार सूर्य ही बादल का कारण है। इसी तरह परमेश्वर ही इस भौतिक शक्ति के कारण हैं, जो उन्हें हमारी दृष्टि से ओझल कर देती है।

इस तरह इस भौतिक जगत में दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य कर रही हैं—आध्यात्मिक शक्ति तथा भौतिक शक्ति। भौतिक शक्ति में आठ भौतिक तत्त्व निहित हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार। ये स्थूलतर से सूक्ष्मतर के क्रम में व्यवस्थित होते हैं। जल पृथ्वी से सूक्ष्म है; अग्नि जल से सूक्ष्म है, इत्यादि।

इस तरह जो तत्त्व जितना ही अधिक सूक्ष्म है, वह उतना ही अधिक शक्तिशाली है। उदाहरणार्थ, मन की गति से आप एक सेकंड में कई हजार मील जा सकते हैं। किन्तु मन से भी अधिक शक्तिशाली बुद्धि है और बुद्धि से भी अधिक शक्तिशाली है आध्यात्मिक शक्ति। यह आध्यात्मिक शक्ति क्या है? इसका उल्लेख *भगवद्गीता* (७.५) में कृष्ण द्वारा हुआ है—*अपरेयम् इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् जीवभूताम्*—"मेरी निकृष्ट (अपरा) भौतिक शक्ति से, परे दूसरी शक्ति है, जो आध्यात्मिक है। इसमें जीवात्माएं सान्निहित हैं।"

हम सारे जीव भी शक्ति हैं, किन्तु श्रेष्ठ (परा) शक्ति हैं। हम श्रेष्ठ किस तरह से हैं? क्योंकि हम निकृष्ट शक्ति अर्थात् पदार्थ को नियन्त्रण में कर सकते हैं। पदार्थ में अपने आप कार्य करने की शक्ति

नहीं होती। एक विशाल हवाई जहाज आकाश में बहुत अच्छी तरह उड़ सकता है, किन्तु जब तक उसमें आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् चालक न हो, वह व्यर्थ है। जेट जहाज हवाई अड्डे पर हजारों वर्षों तक पड़ा रहेगा; यह तब तक नहीं उड़ेगा जब तक आध्यात्मिक शक्ति का छोटा सा अंश अर्थात् चालक आकर उसे हाथ नहीं लगाता। तो फिर ईश्वर को समझने में कठिनाई क्या है? यदि ऐसी अनेकानेक विशाल मशीनें हों, जो आध्यात्मिक शक्ति—जीव—के स्पर्श के बिना हिल-डुल न सकें, तो फिर आप यह किस प्रकार तर्क कर सकते हैं कि यह सम्पूर्ण भौतिक शक्ति बिना किसी नियन्त्रण के स्वतः कार्य करती है? ऐसा मूर्खतापूर्ण तर्क कौन करेगा? अतः जो लोग यह नहीं समझ पाते कि यह भौतिक शक्ति परमेश्वर द्वारा किस प्रकार नियन्त्रित है, वे अल्प बुद्धिवाले हैं। वे ईशविहीन व्यक्ति जो यह विश्वास करते हैं कि यह भौतिक शक्ति स्वतः कार्य कर रही है, निरे मूर्ख हैं।

ईशोपनिषद् का कथन है, "प्रत्येक सजीव या निर्जीव वस्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा नियन्त्रित है एवं वे ही इसके मालिक हैं।" चूँकि वे परम नियन्ता हैं, अतएव वे परम स्वामी भी हैं। हम अपने व्यावहारिक अनुभव से देखते हैं कि जो व्यक्ति व्यापारिक प्रतिष्ठान का नियन्त्रण करता है, वही उसका मालिक होता है। इसी तरह, चूँकि ईश्वर इस भौतिक जगत के नियन्ता हैं, अतः वे इसके स्वामी भी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ तक सम्भव हो, हमें हर वस्तु भगवान् की सेवा में लगानी चाहिए।"

तो फिर हमारी निजी आवश्यकताओं का क्या होगा? इसकी व्याख्या ईशोपनिषद् में हुई है, "मनुष्य को चाहिए कि केवल उन्हीं

वस्तुओं को स्वीकार करे, जो उसके लिए आवश्यक हों और जिन्हें उसके हिस्से के तौर पर नियत किया गया हो। उसे अन्य वस्तुएँ स्वीकार नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसे यह अच्छी तरह पता है कि वे किसकी हैं।'' कृष्णभावनामृत का अर्थ है, वस्तुओं को यथारूप में समझना। अत: यदि हम इन सिद्धान्तों को समझ लें, तो हम कृष्णभावनामृत में भली भाँति स्थित हो जाएंगे।

कृष्ण की स्थिति

ईशोपनिषद् कहती है, ''यद्यपि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने धाम में स्थित हैं, फिर भी वे मन से अधिक तेज हैं और वे दौड़ में सबों से आगे निकल सकते हैं। शक्तिशाली देवता भी उन तक नहीं पहुँच पाते। यद्यपि वे एक ही स्थान पर रहते हैं, किन्तु वे वायु तथा वर्षा प्रदान करने वाले 'देवताओं' को नियन्त्रित करते हैं। वे श्रेष्ठता में सर्वोपरि हैं।'' ब्रह्मसंहिता में कुछ इसी प्रकार कहा गया है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूत:।* यद्यपि कृष्ण सदैव गोलोक वृन्दावन में रहते हैं, किन्तु साथ ही साथ वे समस्त जीवों के हृदयों में भी रहते हैं।

गोलोक में कृष्ण को कुछ भी नहीं करना होता। वे केवल अपने संगियों—गोपियों, ग्वालबालों, अपनी माता तथा पिता, अपनी गौवों तथा बछड़ों आदि—के साथ आनन्द लेते हैं। वे पूर्णतया स्वतन्त्र हैं और उनके संगीजन तो उनसे भी अधिक स्वतन्त्र हैं, क्योंकि जब भी उन पर कोई संकट आता है, तब उनकी रक्षा की कुछ चिन्ता कृष्ण

करते हैं। किन्तु उनके संगियों को कोई चिन्ता नहीं होती। वे तो सिर्फ यही सोचते हैं, ''ओह! कृष्ण तो हैं ही। वे हमारी रक्षा करेंगे।'' जब पाँच हजार वर्ष पूर्व वृन्दावन, भारत में कृष्ण ने अपनी लीलाएँ कीं, तो वे नित्य ही अपने ग्वालबाल सखाओं तथा गौवों एवं बछड़ों के साथ यमुना नदी के तट पर जंगल में खेलने जाया करते थे। कंस प्राय: कृष्ण तथा उनके मित्रों का वध करने के प्रयास के लिए किसी असुर को भेजा करता था। फिर भी सारे ग्वालबाल निश्चिन्त होकर अपनी क्रीड़ाओं का आनन्द लेते रहते थे, क्योंकि वे कृष्ण द्वारा अपनी रक्षा किये जाने के प्रति इतने आश्वस्त रहते थे। यही है आध्यात्मिक जीवन, जिसकी शुरुआत कृष्ण की शरण में जाने से होती है।

कृष्ण की शरण जाने का अर्थ है यह प्रबल विश्वास होना कि कृष्ण हमें किसी भी घातक स्थिति से बचाएँगे। शरण में जाने के लिए पहला कदम यह है कि जो भक्ति के अनुकूल हो, हम उसे अपनाएं। तब हमें भक्ति के लिए प्रतिकूल हर वस्तु का अस्वीकार करना चाहिए। अगला कदम यह विश्वास है कि कृष्ण प्रत्येक स्थिति में हमारी रक्षा एवं हमारा पालन करेंगे। वस्तुत: वे हर एक को पहले से ही संरक्षण प्रदान कर रहे हैं और हर एक का पालन कर रहे हैं। यह एक तथ्य है। किन्तु मायावश हम सोचते हैं कि हम अपनी रक्षा या अपना भरणपोषण स्वयं कर रहे हैं।

भक्तों की सुरक्षा तथा उनके निर्वाह का जिम्मा कृष्ण स्वयं ही लेते हैं। और सामान्य जीवात्माओं का जिम्मा मायादेवी अर्थात् कृष्ण की बहिरंगाशक्ति लेती है। बद्धजीवों को दण्ड देने के लिए मायादेवी कृष्ण की एजेंट है। यह राज्य जैसी स्थिति ही है—अच्छे नागरिकों

की देखभाल सीधे सरकार करती है और अपराधियों की देखरेख बन्दी विभाग के माध्यम से कराती है। बन्दीगृह में सरकार ध्यान रखती है कि बन्दियों को पर्याप्त भोजन मिले और बीमार पड़ने पर अस्पताल में उनका उपचार हो सके। सरकार उनकी देखरेख करती है—किन्तु दण्ड के अधीन।

इसी तरह इस भौतिक जगत में कृष्ण ने निश्चित रूप से हमारी देखरेख के साथ साथ दण्ड की भी व्यवस्था कर रखी है। यदि आप यह पाप करोगे, तो थप्पड़ लगेगा; यदि वह पाप करोगे, तो ठोकर लगेगी। यह सब तीन प्रकार के क्लेशों के अन्तर्गत चल रहा है—अपने खुद के शरीर तथा मन के द्वारा होने वाले दु:ख; अन्य जीवों के द्वारा दिये जाने वाले दु:ख तथा देवताओं की देखरेख में दी जोने वाली प्राकृतिक आपत्तियाँ। दुर्भाग्यवश, हम यह न समझ कर कि हम पापकर्मों के लिए दण्डित हो रहे हैं, माया के वशीभूत होकर यह सोचते हैं कि ठोकर लगना, थप्पड़ लगाया जाना तथा पीटा जाना संयोगवश है। यही माया है।

जैसे ही आप कृष्णभावनामृत अपना लेते हैं, कृष्ण स्वयं ही आपकी देखरेख करने लगते हैं। जैसा कि उन्होंने *भगवद्गीता* (१८.६६) में इंगित किया है, "मैं तुम्हारी देखभाल करूँगा। मैं तुम्हें सारे पापफलों से बचाऊँगा। तुम चिन्ता मत करो।" चूँकि इस भौतिक जगत में हम अनेक बार भौतिक शरीर पा चुके हैं, अतएव हम ढेरों पापफलों को भोग रहे हैं। किन्तु ज्योंही आप कृष्ण की शरण लेते हैं, वे तुरन्त आपकी रखवाली करने लगते हैं और आपके समस्त पापफलों को निर्मूल कर देते हैं। कृष्ण कहते हैं, "मत संकोच करो।" आप यह न सोचें कि "मैंने अनेक पाप किये हैं। कृष्ण मुझे

किस तरह बचाएँगे?" नहीं। कृष्ण सर्वशक्तिमान हैं। वे आपको बचा सकते हैं। आपका कर्तव्य है कि आप उनकी शरण में जाएँ और बिना किसी शर्त के अपना जीवन उनकी सेवा में अर्पित कर दें। तब नि:संदेह कृष्ण आपकी रक्षा करेंगे।

कृष्ण : ऊपरी विरोधाभास

ईशोपनिषद् कहती है, "परमेश्वर चलते हैं और नहीं भी चलते। वे बहुत दूर हैं, किन्तु निकट भी हैं। वे हर वस्तु के भीतर हैं, फिर भी वे हर वस्तु से बाहर हैं।" तो कृष्ण किस तरह चल सकते हैं और नहीं भी चल सकते? एक मोटा सा उदाहरण लें। विचार करें कि दोपहर के समय सूर्य आपके सिर के ऊपर किस तरह चमकता है। अब यदि आप चलने लगें, तो आप देखेंगे कि सूर्य आपके साथ-साथ चल रहा है। लगभग ४० वर्ष पूर्व जब मैं गृहस्थ था, तो शाम के समय एक बार मैं अपने द्वितीय पुत्र के साथ घूम रहा था। वह चार वर्ष का था। वह सहसा बोल पड़ा, "पिताजी! चन्द्रमा हमारे पीछे-पीछे क्यों चल रहा है?" देखा आपने? चन्द्रमा तथा सूर्य आकाश में स्थिर हैं, फिर भी वे हमारे साथ चलते प्रतीत होते हैं। इसी तरह यदि आप हवाईजहाज में या ट्रेन में जा रहे हों, तो आप देखेंगे कि चन्द्रमा या सूर्य आपके साथ जा रहे हैं। अत: यदि सूर्य तथा चन्द्रमा के लिए ऐसा सम्भव है, तो फिर कृष्ण क्यों नहीं आपके साथ चल सकते? "यद्यपि वे बहुत दूर स्थित हैं, किन्तु वे हमारे अत्यन्त निकट भी हैं।" दूसरे शब्दों में, यद्यपि कृष्ण गोलोक वृन्दावन

में अपने संगियों के साथ लीलाओं का आनन्द ले रहे हैं, लेकिन साथ-साथ वे इस भौतिक जगत में सर्वत्र उपस्थित हैं। इस तरह परमेश्वर "चलते हैं और नहीं भी चलते।"

यदि कृष्ण यहाँ पर तथा गोलोक में एक साथ उपस्थित न होते, तो वे भक्तों द्वारा अर्पित किया हुआ भोजन कैसे स्वीकार कर पाते? ऐसा मत सोचिये कि कृष्ण भक्तों की भेंट स्वीकार नहीं करते। यदि कोई भक्तिभाव से उन्हें कुछ अर्पित करता है, तो वे तुरन्त अपना हाथ आगे बढ़ा देते हैं। *भगवद्गीता* (९.२६) में कृष्ण कहते हैं—*तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि*—"जब भी कोई श्रद्धा तथा प्रेम पूर्वक मुझे कुछ भी अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।" लोग पूछ सकते हैं, "ओह! कृष्ण तो अत्यन्त दूर गोलोक वृन्दावन में हैं; वे आपकी भेंट को कैसे खा सकते हैं?" हाँ, वे उसे स्वीकार करते हैं। हाँ, वे उसे खाते हैं, बशर्ते कि वह प्रेम पूर्वक अर्पित की गई हो।

अतएव, कृष्ण सर्वत्र उपस्थित हैं और वे तुरन्त कहीं भी अपने को प्रकट कर सकते हैं, किन्तु उन्हें बुलाने के लिए आपमें योग्यता होनी चाहिए। यदि आप वास्तव में भक्त हैं, तो कृष्ण तुरन्त आपकी रक्षा करने आएँगे। असुर हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र भक्त प्रह्लाद को ललकारा, "कहाँ है तुम्हारा ईश्वर? तुम कहते हो वह सर्वत्र है, तो क्या वह मेरे महल के इस खम्भे में है? क्या तुम सोचते हो कि तुम्हारा भगवान् उसमें है? ठीक। तो मैं उसे मार डालूँगा।" हिरण्यकशिपु ने तुरन्त खम्भा तोड़ डाला। तब उस खम्भे में से नृसिंह देव के रूप में—आधे मनुष्य तथा आधे सिंह के रूप में—कृष्ण बाहर निकले और उन्होंने उस असुर को मार डाला। ऐसे हैं कृष्ण।

अत: कृष्ण कहीं भी अपने आप को प्रकट कर सकते हैं, क्योंकि वे सर्वत्र उपस्थित हैं। इसकी व्याख्या ईशोपनिषद् में हुई है—*तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:*—परमेश्वर हर वस्तु के भीतर हैं, फिर भी वे हर वस्तु के बाहर भी हैं। यह वैदिक मन्त्र इसका प्रमाण है कि भगवान् सर्वत्र हैं। वेदों में जो कुछ कहा गया है वह तथ्य है। जब तक आप वेदों को स्वयंसिद्ध सत्य नहीं मान लेते, तब तक आप कृष्णभावनामृत में प्रगति नहीं कर सकते। गणित में न जाने कितने स्वयंसिद्ध तथ्य होते हैं और जैसे कि बिन्दु में लम्बाई या चौड़ाई नहीं होती; यदि एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु के तुल्य होती है, तो वे परस्पर तुल्य होती हैं, आदि, आदि। ये स्वयंसिद्ध तथ्य हैं और यदि हमें गणित सीखना है, तो हमे उन्हें स्वीकार करना होगा। इसी तरह वेदों में स्वयंसिद्ध सत्य हैं और यदि हम आध्यात्मिक प्रगति करना चाहते हैं, तो हमें वेदों को स्वयं-सिद्ध सत्य के रूप में स्वीकार करना होगा।

कभी-कभी वेद परस्पर विरोधाभासी प्रतीत होते हैं; फिर भी हमें समस्त वैदिक आदेशों को स्वीकार करना होता है। उदाहरणार्थ, वैदिक आदेश के अनुसार यदि आप किसी पशु की हड्डी छुएँ, तो आप तुरन्त अशुद्ध हो जाते हैं और आपको स्नान करना होता है। अब शंख एक पशु की हड्डी है, किन्तु शंख का उपयोग अर्चाविग्रह-कक्ष में होता है, जहाँ हर वस्तु नितान्त शुद्ध होनी चाहिए। आप यह तर्क नहीं कर सकते, "अरे! आपने तो कहा था कि हड्डी अशुद्ध है और इसे छूते ही आप अशुद्ध हो जाते हैं। फिर भी आप शंख को अर्चाविग्रह-कक्ष में रखे हुए हैं।" नहीं।

ऐसे तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। आपको यह स्वीकार करना होगा कि हड्डियाँ अशुद्ध हैं, किन्तु शंख इतना शुद्ध है कि इसे अर्चाविग्रह-कक्ष में प्रयुक्त किया जा सकता है।

इसी तरह आपको गुरु के आदेश को स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में मानना होता है। यहाँ कोई तर्क काम नहीं करता। इस तरह आप प्रगति कर सकते हैं। आप उन वस्तुओं के विषय में तर्क नहीं कर सकते, जो आपके लिए अचिन्त्य हैं। आपको केवल असफलता ही हाथ लगेगी। आपको वैदिक आदेशों तथा गुरु की आज्ञाओं को स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में स्वीकार करना होता है। यह हठधर्मी नहीं, क्योंकि हमारे पूर्ववर्ती गुरुओं ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया था। यदि आप अपने गुरु से तर्क करेंगे, तो आप कभी भी निष्कर्ष तक नहीं पहुँचेंगे। यह तर्क निरन्तर चलता रहेगा—आप कोई तर्क प्रस्तुत करेंगे, मैं कोई तर्क...यह कोई विधि नहीं है।

जैसा कि महाभारत में कहा गया है—*तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना*—कोरे तर्क से किसी ठोस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता और विभिन्न देशों तथा विभिन्न परिस्थितियों के कारण एक शास्त्र दूसरे से भिन्न होता है। *नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्*—जहाँ तक दार्शनिक चिन्तन की बात है, एक दार्शनिक अमुक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है और दूसरा दार्शनिक कोई दूसरा सिद्धान्त, और ये सिद्धान्त सदैव एक दूसरे का विरोध करते हैं। जब तक आप दूसरे दार्शनिक को हरा न दें, तब तक आप प्रसिद्ध दार्शनिक नहीं बन सकते। दर्शन की यही रीति है। तो फिर कोई अन्तिम दार्शनिक

सत्य को कैसे सीख सकता है? कहा गया है—*धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्*। धार्मिक विधि का रहस्य स्वरूपसिद्ध आत्माओं के हृदयों के भीतर छिपा है। तो आपको इसकी अनुभूति कैसे हो? *महाजनो येन गतः स पन्थाः*—आपको महान आध्यात्मिक पुरुषों के पदचिह्नों का अनुगमन करना होता है। इसलिए हम भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु का अनुगमन करने का प्रयास कर रहे हैं। यही पूर्णता भगवान् है। आपको वेदों के आदेश स्वीकार करने होते हैं और प्रामाणिक गुरु के निर्देशों का पालन करना होता है। तब सफलता निश्चित है।

भगवान् तथा उनकी शक्ति—एक एवं भिन्न

ईशोपनिषद् कहती है, "जो व्यक्ति सारे जीवों को गुण में भगवान् के ही समान आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में देखता है, वह वस्तुओं का सही ज्ञाता बन जाता है। तो फिर उसे किस चीज से माया या चिन्ता उत्पन्न हो सकती है? यह अनुभूति कृष्णभावनामृत है। अनुभूति तो कई प्रकार की होती है, किन्तु कृष्णभक्त को इस सत्य का अनुभव होता है कि गुणात्मक दृष्टि से तो हम भगवान् से एक हैं, किन्तु मात्रात्मक दृष्टि से हम उनसे भिन्न हैं। निर्विशेषवादी सोचते हैं कि हम भगवान् से या परम सत्य से शतप्रतिशत एक हैं। किन्तु यह तथ्य नहीं है। यदि हम शतप्रतिशत परमेश्वर से एकाकार होते, तो फिर माया के वश में क्यों आते? निर्विशेषावादी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते।

वैदिक वाङ्मय में परमेश्वर के साथ हमारी असली पहचान का वर्णन अग्नि और चिंगारियों की उपमा के माध्यम से हुआ है। अग्नि के स्फुलिंगों का गुण अग्नि जैसा ही होता है, फिर भी मात्रा में वे भिन्न हैं। किन्तु जब लघु स्फुलिंग अग्नि से छूट कर जल में गिरता है, तो उसका अग्नि का गुण चला जाता है। इसी तरह जब सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा भगवान् के संग से विलग होता है और तमोगुण के सम्पर्क में आता है, तो उसका आध्यात्मिक गुण लगभग लुप्त हो जाता है। जब स्फुलिंग जल के बजाय स्थल पर गिरता है, तो वह स्फुलिंग कुछ ऊष्मा बनाये रखता है। इसी तरह जब जीव रजोगुणी होता है, तो कुछ आशा रहती है कि वह अपने कृष्णभावनामृत को पुनरुज्जीवित कर सकता है। और यदि यही स्फुलिंग सूखी घास पर गिरता है, तो वह यह दूसरी आग जला सकता है और अपने अग्निमय गुणों को पुनः प्राप्त कर सकता है। इसी तरह सतोगुणी व्यक्ति आध्यात्मिक संगति का पूरा-पूरा लाभ उठा सकता है और अपने कृष्णभावनामृत को आसानी से पुनरुज्जीवित कर सकता है। इसलिए इस भौतिक जगत में मनुष्य को सतोगुण के स्तर पर पहुँचना होता है।''

पुनः अग्नि का यह दृष्टान्त भगवान् तथा उनकी विविध शक्तियों के एक साथ एकत्व एवं भिन्नता के तत्त्व को समझने में सहायक हो सकता है। अग्नि की दो मुख्य शक्तियाँ हैं—ऊष्मा तथा प्रकाश। जहाँ कहीं अग्नि होती है, वहाँ ऊष्मा तथा प्रकाश रहता है। न तो ऊष्मा अग्नि से भिन्न है न प्रकाश; तो भी ऊष्मा तथा प्रकाश अग्नि नहीं हैं। इसी तरह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को इस विधि से समझा जा सकता है। यह

ब्रह्माण्ड केवल कृष्ण की शक्तियों से बना हुआ है, अतएव कृष्ण से भिन्न कुछ भी नहीं है। लेकिन फिर भी कृष्ण भौतिक ब्रह्माण्ड में हर वस्तु से पृथक् हैं।

इस तरह हम भौतिक या आध्यात्मिक जगतों में जो कुछ भी देखते हैं, वह कृष्ण की विविध शक्तियों का विस्तार मात्र है। यह भौतिक जगत कृष्ण की बहिरंगा शक्ति का विस्तार है; आध्यात्मिक जगत उनकी अन्तरंगा शक्ति का विस्तार है और हम सारे जीव उनकी तटस्था शक्ति का विस्तार हैं। हम सब शक्ति हैं। हम शक्तिमान नहीं हैं।

मायावादी दार्शनिक कहते हैं कि चूँकि शक्तियाँ ब्रह्म अर्थात् शक्तिमान से बाहर नहीं हैं, अतः वे ब्रह्म से अभिन्न हैं। यह अद्वैतवाद है। हमारे वैष्णव दर्शन में शक्ति एक ही साथ शक्तिमान से एक तथा भिन्न है। पुनः ऊष्मा तथा अग्नि का दृष्टान्त लेते हैं। जब आप ऊष्मा का अनुभव करते हैं, तो आप समझ जाते हैं कि कहीं पास ही अग्नि है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि चूँकि आप कुछ ऊष्मा का अनुभव करते हैं, इसलिए आप अग्नि में हैं। अतः उष्मा तथा अग्नि, शक्ति तथा शक्तिमान एक होते हुए भी भिन्न हैं।

अतः एक होने का मायावाद दर्शन तथा एक होने का हमारा वैष्णव दर्शन भिन्न भिन्न हैं। मायावादी कहते हैं कि ब्रह्म सत्य है, किन्तु ब्रह्म से उद्भूत शक्ति मिथ्या है। हम कहते हैं कि चूँकि ब्रह्म सत्य है, अतः उसकी शक्ति भी सत्य होनी चाहिए। मायावादी दर्शन तथा वैष्णव दर्शन में यही अन्तर है। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि यह भौतिक शक्ति मिथ्या है, यद्यपि यह निश्चित रूप से अस्थायी है। मान लीजिये कि हमें कोई कष्ट है। शरीर, मन तथा बाहरी मामलों से सम्बन्धित

अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं। वह कष्ट आता जाता रहता है, किन्तु जब हम कष्ट भोग रहे होते हैं, तो यह निश्चय ही सत्य है। हम यह नहीं कह सकते कि यह मिथ्या है। मायावादी दार्शनिक कहते हैं कि यह मिथ्या है। किन्तु जब उन्हें कोई कष्ट होता है, तो वे इतने विचलित क्यों होते है? नहीं, कृष्ण की कोई भी शक्ति मिथ्या नहीं है।

ईशोपनिषद् में *विजानत:* शब्द आता है—"वह जो जानता है।" यह उस व्यक्ति का वर्णन है, जो भगवान् तथा उनकी शक्तियों के एकता एवं भिन्नता को समझता है। यदि कोई *विजानत:* नहीं है, तो वह मोह में रहेगा और कष्ट भोगेगा। किन्तु जो जानता है उसके लिए न तो मोह है न शोक है। जब आप पूर्णतया आश्वस्त हो लेते हैं कि कृष्ण तथा कृष्ण की शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तो आपके लिए कोई मोह या शोक नहीं रह जाता। यह ब्रह्मभूत अवस्था कहलाती है जैसा कि *भगवद्गीता* (१८.५४) में बताया गया है—*ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति*—ब्रह्म-साक्षात्कार के दिव्य पद पर स्थित व्यक्ति पूर्णतया प्रसन्न रहता है और वह किसी भी वस्तु के लिए न तो शोक करता है, न इच्छा करता है।

हम अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए उन वस्तुओं को पाने के लिए अत्यन्त लालायित रहते हैं, जो हमारे पास नहीं होतीं। यही लालसा है। और जब हमारी कोई वस्तु खो जाती है, तो हम शोक करते हैं। किन्तु यदि हम यह जान लें कि कृष्ण समस्त भौतिक शक्ति के स्रोत तथा इसके स्वामी हैं, तो हम यह समझ लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु उनकी है और जो भी वस्तु हमें प्राप्त होती है, वह उन्हीं की सेवा के लिए उनके द्वारा प्रदत्त है। इस तरह हम इस जगत की वस्तुओं के लिए

लालायित नहीं रहते। यही नहीं, यदि किसी वस्तु को कृष्ण वापस ले लेते हैं, तो फिर शोक करने की क्या आवश्यकता? हमें सोचना चाहिए, "कृष्ण यह वस्तु मुझसे ले लेना चाहते थे। अतएव मैं शोक क्यों करूँ? परमेश्वर समस्त कारणों के कारण हैं। वे लेते हैं और देते भी हैं।" जब कोई इस तरह पूर्णज्ञानी हो जाता है, तो उसमें न तो शोक रहता है, न और कोई लालसा। यही आध्यात्मिक पद है। तब आप हर वस्तु को आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में, कृष्ण के अंश रूप में तथा उनके नित्य सेवक के रूप में देख सकते हैं।

परम शुद्ध कृष्ण

ईशोपनिषद् बताती है कि भगवान् "सर्वोच्च, अमूर्त, सर्वज्ञ, दोषों से परे, देह में बिना किसी नाड़ीओं वाले, शुद्ध तथा अकलुषित" हैं। कोई भी पाप कृष्ण को कलुषित नहीं कर सकता। कभी कभी अल्पज्ञ लोग कृष्ण की आलोचना करते हैं कि "कृष्ण अर्धरात्रि में अन्य पुरुषों की पत्नियों के साथ विहार करते हुए रासनृत्य क्यों रचाते थे?" कृष्ण ईश्वर हैं। वे जो चाहें सो कर सकते हैं। आपके नियम कृष्ण पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकते। आपके लिए अनेक प्रतिबन्धकारी नियम हैं, किन्तु कृष्ण के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्धकारी नियम नहीं है। वे सारे नियमों के आगे निकल सकते हैं।

परीक्षित महाराज ने यही प्रश्न शुकदेव गोस्वामी से पूछा था, "कृष्ण नैतिकता तथा धर्म के सिद्धान्तों की स्थापना करने आये थे; तो फिर उन्होंने उन अनेक युवतियों के साथ विहार क्यों किया, जो

दूसरों की पत्नियाँ थीं? यह अत्यन्त पापपूर्ण प्रतीत होता है।'' शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया कि कृष्ण पाप से कलुषित नहीं हो सकते; प्रत्युत जो भी कृष्ण के सम्पर्क में आता है, चाहे दूषित मन से ही आए, वह शुद्ध बन जाता है। सूर्य का दृष्टान्त उत्तम है : सूर्य कलुषित नहीं बन सकता; प्रत्युत सूर्यप्रकाश में यदि कोई कलुषित वस्तु रखी जाये, तो वह शुद्ध बन जाती है। इसी तरह आप किसी भी भौतिक इच्छा को लेकर कृष्ण के पास जाएँ, तो आप शुद्ध बन जाएँगे। निस्सन्देह, कृष्ण के प्रति गोपियों के मनोभाव लेशमात्र भौतिक नहीं थे। फिर भी, युवतियाँ होने से वे उनके सौंदर्य पर मुग्ध हो गईं। वे कृष्ण को अपना जारपति बनाने की इच्छा से उनके पास पहुँची। किन्तु वस्तुत: वे शुद्ध बन गईं। यहाँ तक कि असुर भी कृष्ण के सम्पर्क में आकर शुद्ध बन सकते है। उदाहरणार्थ कंस कृष्ण को अपना शत्रु मानता था। किन्तु वह भी कृष्णभावनाभावित था, क्योंकि वह सदा यह सोचता रहता था, ''ओह! मैं कृष्ण को कैसे खोजुं? मैं उसका वध कर दूँगा।'' यह उसकी आसुरी मनोवृत्ति थी। किन्तु वह भी शुद्ध बन गया। उसे मोक्ष मिला।

निष्कर्ष यह निकला कि यदि हम किसी तरह कृष्णभावनामृत विकसित कर लें, तो हम सारी पापेच्छाओं से तुरन्त मुक्त होकर शुद्ध बन जाएँगे। कृष्ण यह अवसर हर एक को प्रदान करते हैं।

शरीर की सीमाओं के परे

जब ईशोपनिषद् परमेश्वर का वर्णन ''सर्वोच्च, शरीर-रहित तथा सर्वज्ञ'' के रूप में करती है, तो इससे ईश्वर तथा हमारे बीच के अन्तर

का पता चलता है। हम देहधारी हैं, अतएव मेरा शरीर मुझसे भिन्न है। जब मैं इस शरीर को त्यागता हूँ, तो यह धूल बन जाता है। जैसा कि बाइबल कहती है, ''तू धूल है और इसी धूल में तू मिल जाएगा।'' किन्तु *मैं* धूल नहीं हूँ, *मैं* तो आत्मा हूँ। इसलिए तू का अर्थ ''शरीर'' है।

किन्तु कृष्ण शरीरधारी नहीं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। दूसरे शब्दों में, उनका शरीर शुद्ध आत्मा है। इसलिए वे अपना शरीर नहीं बदलते। चूँकि वे अपना शरीर नहीं बदलते इसलिए वे सर्वज्ञ हैं—उन्हें सब कुछ स्मरण रहता है। किन्तु चूँकि हम अपने भौतिक शरीर बदलते रहते हैं, इसलिए हम भूल जाते हैं कि हमारे विगत जन्म में क्या घटना घटी थी। हम यह भूल चुके हैं कि हम कौन थे, ठीक उसी तरह, जिस तरह सोते समय हम अपने शरीर तथा अपने परिवेश को भूल जाते हैं। शरीर थक जाता है और विश्राम करता है; यह निष्क्रिय हो जाता है। इसके विपरीत, मैं स्वप्नलोक में कार्य करता हूँ, कहीं चला जाता हूँ, उड़ान भरता हूँ, मैं दूसरे शरीर, दूसरे परिवेश का सृजन करता हूँ। इसका अनुभव हम हर रात करते हैं। इसे समझना कठिन नहीं है।

इसी तरह हम प्रत्येक जन्म में हम भिन्न परिवेश का सृजन करते हैं। इस जन्म में मैं अपने को भारतीय समझ सकता हूँ। किन्तु अगले जन्म में, हो सकता है कि मैं भारतीय न बनूँ—कोई अमरीकी होऊँ। किन्तु यदि मैं अमरीकी भी बनूँ, तो हो सकता है कि मनुष्य न बनूँ। मैं गाय या बैल बनूँ। तब मुझे कसाईघर भेज दिया जाएगा। आप कठिनाई देख रहे हैं?

समस्या यह है कि हम हर जन्म में सदैव शरीर बदलते रहते हैं। यह एक गम्भीर समस्या है। हमारा कोई स्थिर पद नहीं है। हम यह नहीं जानते कि ८४,००,००० योनियों में से हमें किस योनि में रखा जाएगा। किन्तु इसका एक समाधान है—यदि कोई व्यक्ति किसी तरह शुद्ध कृष्णभावनामृत विकसित कर ले तो, वह मृत्यु के समय कृष्ण के पास जाएगा और तब उसे पुन: भौतिक शरीर धारण नहीं करना होगा। उसे कृष्ण जैसा आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है, जो सनातन, ज्ञान से परिपूर्ण तथा आनन्दमय होता है।

इसलिए हमें कृष्णभावनामृत के अभ्यास को अंगीकार करके उसे बिना किसी विचलन के अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक सम्पन्न करना चाहिए। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि कृष्णभावनामृत एक प्रकार का फैशन (दिखावा) है। नहीं, यह तो प्रत्येक मानव का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्म है। मानव जीवन एकमात्र कृष्णभावनामृत विकसित करने के लिए मिला है। इसके अलावा मानव के लिए अन्य कोई कार्य नहीं है।

दुर्भाग्यवश, आधुनिक सभ्यता के लोगों ने इतनी सारी दूसरी झंझटें पाल रखी हैं कि वे कृष्णभावनामृत को भूल रहे हैं। यह माया कहलाती है। वे अपना असली कार्य भूल रहे हैं और धूर्त अन्धे नेता हर एक को नरक की ओर ले जा रहे हैं। वे केवल गलत रास्ते पर ले जाने वाले नेता हैं। लोग किसी सत्ता को स्वीकार करना नहीं चाहते। फिर भी उन्होंने इन धूर्तों को अपना नेता मान लिया है और गुमराह हुए जा रहे हैं। इस तरह धूर्त नेता तथा उनके अभागे अनुयायी दोनों ही प्रकृति के कठोर नियमों से बंधे रहते हैं।

अत: यदि कोई किसी तरह से कृष्ण के सम्पर्क में आता है, तो उसे कृष्णभावनामृत की प्रक्रिया को गम्भीरता से ग्रहण करना चाहिए और कृष्ण के चरणकमलों को कस कर पकड़ लेना चाहिए। कृष्ण के चरणकमलों को कस कर पकड़ रखने से माया आपको हानि नहीं पहुँचा सकेगी।

आध्यात्मिक तथा भौतिक शिक्षा

ईशोपनिषद् कहती है, "जो अविद्या की संस्कृति में लगे हुए हैं, वे अज्ञान के गहनतम क्षेत्र में प्रवेश करेंगे।" शिक्षा दो प्रकार की होती है—भौतिक तथा आध्यात्मिक। भौतिक शिक्षा जड़-विद्या कहलाती है। जड़ का अर्थ है "जो चल फिर न सके वह" अर्थात् पदार्थ। आत्मा तो चल फिर सकता है। हमारा शरीर पदार्थ तथा आत्मा का सम्मेल है। जब तक आत्मा वहाँ रहता है, शरीर हिलता-डुलता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य के कोट तथा पैंट तब तक हिलते-डुलते हैं, जब तक मनुष्य उन्हें पहने रखता है। ऐसा लगता है कि कोट तथा पैंट स्वयं ही हिल-डुल रहे हैं, किन्तु वास्तव में यह तो शरीर है, जो उन्हें हिलाता-डुलाता है। इसी तरह यह शरीर चलता-फिरता है, क्योंकि आत्मा इसे चला-फिरा रहा है। दूसरा उदाहरण मोटरकार का है। मोटरकार चलती है, क्योंकि चालक इसे चला रहा है। जो मूर्ख होगा, वही यह सोचेगा कि मोटरकार अपने आप चल रही है। अद्भुत यान्त्रिक व्यवस्था के बावजूद भी मोटरकार स्वत: नहीं चल सकती।

चूँकि लोगों को केवल जड़विद्या अर्थात् भौतिकतावादी शिक्षा दी जाती है, इसलिए वे सोचते हैं कि यह भौतिक प्रकृति अपने आप

कार्य करती है, चलती फिरती है और अनेक अद्‌भुत वस्तुएँ प्रदर्शित करती है। जब हम समुद्रतट पर होते हैं, तो हम लहरों को चलते देखते हैं, लेकिन वे स्वत: नहीं चलती। हवा उन्हें चलाती है और हवा को कोई और ही चलाता है। इस तरह यदि आप चरम कारण तक पहुँचें, तो आपको समस्त कारणों के कारण कृष्ण मिलेंगे। परम कारण की खोज करना ही असली शिक्षा है।

इस प्रकार *ईशोपनिषद्* कहती है कि जो लोग भौतिक शक्ति की बाह्य गतियों द्वारा मोहित हो जाते हैं, वे अविद्या की पूजा करते हैं। आधुनिक सभ्यता में प्रौद्योगिकी को समझने के लिए कि किस तरह मोटरकार या हवाईजहाज चलता है, बड़े-बड़े संस्थान हैं। वे इसका अध्ययन कर रहे हैं कि इतनी सारी मशीनरी कैसे बनाई जाये, किन्तु ऐसा कोई शैक्षिक संस्थान नहीं है, जो इसकी खोज करे कि आत्मा किस तरह गतिशील है। वास्तविक गति देने वाले का अध्ययन नहीं किया जा रहा; उल्टे पदार्थ की बाह्य गति का अध्ययन किया जा रहा है।

मेसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालाजी में भाषण देते हुए मैंने छात्रों से पूछा, "शरीर को चलाने वाले आत्मा का अध्ययन करने के लिए टेक्नालाजी कहाँ है?" उनके पास ऐसी कोई *टेक्नालाजी* नहीं थी। वे ठीक से उत्तर न दे पाये, क्योंकि उनकी शिक्षा केवल जड़विद्या थी। *ईशोपनिषद्* कहती है कि जो लोग ऐसी भौतिकतावादी शिक्षा की उन्नति में लगे हुए हैं, वे संसार के गहनतम भागों में जाएँगे। अत: वर्तमान सभ्यता बहुत ही खतरे में है, क्योंकि प्रामाणिक आध्यात्मिक शिक्षा के लिए संसार में कहीं कोई व्यवस्था नहीं है। इस तरह मानव समाज को जगत के गहन अंधकार के क्षेत्र में ढकेला जा रहा है।

श्रील *भक्तिविनोद ठाकुर* ने एक गीत में घोषित किया है कि भौतिकतावादी शिक्षा केवल माया का ही विस्तार है। इस भौतिकतावादी शिक्षा में हम जितना-जितना आगे बढ़ेंगे, उतनी ही अधिक ईश्वर को समझने की हमारी क्षमता अवरुद्ध होगी। और अन्त में हमें घोषित करना पड़ जाएगा, "ईश्वर मृत हैं।" यह सब अज्ञान तथा अन्धकार है।

अत: भौतिकतावादी लोग निश्चय ही अंधकार में ढकेले जा रहे हैं। किन्तु एक अन्य वर्ग भी है—तथाकथित दार्शनिकों, मनोधर्मियों, धर्मविदों तथा योगियों का—जो इससे भी अधिक गहन अन्धकार में जा रहे हैं, क्योंकि वे कृष्ण की अनदेखी कर रहे हैं। वे आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करने का दिखावा करते हैं, किन्तु उन्हें कृष्ण या ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं रहता, अत: उनकी शिक्षाएँ पक्के भौतिकतावादियों की शिक्षाओं की अपेक्षा कहीं अधिक घातक हैं। क्यों? क्योंकि वे लोगों को यह सोचने के लिए दिग्भ्रमित करते हैं कि वे असली आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। वे जिस तथाकथित योग प्रणाली की शिक्षा देते हैं—"केवल ध्यान करो और तुम समझ जाओगे कि तुम ईश्वर हो"—वह लोगों को दिग्भ्रमित करती है। कृष्ण ने ईश्वर बनने के लिए कभी ध्यान नहीं किया। वे जन्म से ही ईश्वर थे। जब वे तीन मास के शिशु थे, तो पूतना नामक राक्षसी ने उन पर आक्रमण किया, किन्तु कृष्ण ने उसका स्तन-पान करके उसके प्राण निकाल लिये। अत: कृष्ण प्रारम्भ से ईश्वर ही थे। यही ईश्वर है।

तथाकथित व्यर्थ के योगी शिक्षा देते हैं, "तुम स्थिर तथा मौन बन जाओ, और तुम ईश्वर हो जाओगे।" मैं मौन कैसे हो सकता हूँ?

क्या मौन बनने की कोई सम्भावना है? नहीं, ऐसी कोई सम्भावना नहीं है। "इच्छारहित हो जाओ और तुम ईश्वर बन जाओगे।" भला मैं इच्छारहित कैसे हो सकता हूँ? ये सब बहकावे हैं। हम इच्छारहित हो नहीं सकते। हम मौन नहीं हो सकते। लेकिन हमारी इच्छाएँ तथा हमारे कार्यकलाप शुद्ध बनाये जा सकते हैं। यही असली ज्ञान है। हमारी एकमात्र इच्छा कृष्ण की सेवा करने की होनी चाहिए। यही इच्छा की शुद्धि है। स्थिर तथा मौन होने के बजाय हमें अपने कार्यों को कृष्ण की सेवा से जोड़ देना चाहिए। जीवित व्यक्ति के रूप में हममें गतिविधियाँ, इच्छाएँ, प्रेमप्रवृत्ति होती हैं, किन्तु इन्हें गलत दिशा दी जा रही है। यदि हम उन्हें कृष्ण की सेवा में लगाते हैं, तो यह शिक्षा की पूर्णता है।

हम यह नहीं कहते कि आप भौतिक शिक्षा में आगे न बढ़ें। आप आगे बढ़ें, किन्तु साथ ही कृष्णभावनाभावित बनें। यही हमारा सन्देश है। हम यह नहीं कहते कि आपको मोटरकारें नहीं बनानी चाहिए। नहीं, हम कहते हैं, "ठीक ! आपने ये मोटरकारें तैयार कर लीं। अब इन्हें कृष्ण की सेवा में लगाइये।" यही हमारा प्रस्ताव है।

अत: शिक्षा आवश्यक है, किन्तु यदि यह निरी भौतिकतावादी है—यदि यह कृष्णभावना से विहीन है—तो यह अत्यन्त घातक है। यही ईशोपनिषद् का उपदेश है।

ज्ञान बनाम अविद्या

ईशोपनिषद् मे उक्ति है, "बुद्धिमानों ने बताया है कि ज्ञान की संस्कृति से एक प्रकार का फल मिलता है और अविद्या की संस्कृति

से भिन्न प्रकार का।" जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ज्ञान की असली संस्कृति तो आध्यात्मिक ज्ञान का संवर्धन है। शारीरिक सुविधाओं या शरीर की रक्षा करने की दिशा में ज्ञान का संपर्धन अविद्या की संस्कृति है, क्योंकि इस शरीर की रक्षा करने का आप चाहे जितना भी प्रयास करें, वह स्वाभाविक मार्ग का ही अनुसरण करेगा। वह क्या है? बारम्बार जन्म तथा मृत्यु, और शरीर के प्रकट होने पर रोग तथा वृद्धावस्था। लोग इस शरीर के ज्ञान का अनुशीलन करने में अति व्यस्त हैं, यद्यपि वे देखते हैं कि यह शरीर पल-पल क्षीण होता रहता है। शरीर की मृत्यु जन्म के समय ही निश्चित हो गई थी। यह तथ्य है। अत: आप इस शरीर के प्राकृतिक प्रवाह अर्थात् जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु को रोक नहीं सकते।

श्रीमद्भागवत (१०.८४.१३) में कहा गया है कि यह शरीर तीन मुख्य तत्त्वों—कफ, पित्त तथा वायु—से युक्त एक थैला है और जो कोई कफ, पित्त तथा वायु के इस सम्मेल को "स्वयं" मान लेता है, वह गधा है। बड़े-बड़े दार्शनिक तथा विज्ञानी भी अपने को कफ, पित्त तथा वात का यही सम्मेल मानते हैं। यही उनकी भूल है। वस्तुत: दार्शनिक तथा विज्ञानीजन आत्मा हैं और अपने कर्म के अनुसार वे अपनी प्रतिभा प्रदर्शित कर रहे हैं। वे कर्म के नियम को नहीं समझते।

आखिर हम इतने सारे भिन्न भिन्न व्यक्ति क्यों पाते हैं? यदि मनुष्य कफ, वात तथा पित्त के सम्मेल के अतिरिक्त और कुछ नहीं, तो फिर वे एक जैसे क्यों नहीं हैं? कोई लखपती के घर में जन्म लेता है; किसी दूसरे को कठोर श्रम करने पर भी दिन भर दो बार का भोजन नहीं मिल पाता। यह अन्तर क्यों? ऐसा कर्म के नियम के

कारण होता है। जो इस रहस्य को समझता है, वह ज्ञानी है।

यह मनुष्य-जन्म हमें जीवन के रहस्य को समझने के लिए मिला है। जो इस मनुष्य-रूप को इस प्रयोजन में प्रयुक्त नहीं कर पाता, वह कृपण अर्थात् कंजूस है। *गर्ग उपनिषद्* में ऐसा कहा गया है। यदि आपको दस लाख डॉलर मिलें और आप इसका उपयोग यह सोच कर न करें कि, "मैं इसे बैंक खाते में रखूँगा" तो आप कृपण हैं। आपको इसका पता नहीं कि अपने धन का किस तरह उपयोग करें। दूसरी ओर, एक ऐसा व्यक्ति जो इस दस लाख डॉलर का उपयोग अन्य दस लाख डॉलर बनाने में करता है, वह बुद्धिमान है। इसी तरह यह मनुष्य जीवन अमूल्य है। जो इसका उपयोग आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करने में करता है, वह *ब्राह्मण* है, बुद्धिमान है और जो भौतिकतावादी ज्ञान का अनुशीलन करता है, वह कृपण है। एक ब्राह्मण तथा कृपण में यही अन्तर है।

जो व्यक्ति इस शरीर का उपयोग कुत्तों-बिल्लियों की तरह केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है, वह कृपण है। वह नहीं जानता कि अपने "दस लाख डॉलरों" का उपयोग कैसे करे। इसलिए माता, पिता, राज्य तथा शिक्षकों का यह कर्तव्य है कि वे अपने आश्रितों को जीवन के प्रारंभ से ही आध्यात्मिक शिक्षा दें। निस्सन्देह, *श्रीमद्भागवत* का कथन है कि जब तक कोई अपने आश्रितों को उस आध्यात्मिक ज्ञान के स्तर तक ऊपर उठाने में सक्षम न हो, जो उन्हें बारम्बार होने वाले जन्म-मृत्यु से बचा सके, तब तक उसे पिता, माता, गुरु या सरकार का मुखिया नहीं बनना चाहिए।

ईश्वर को जानने की विधि

वैदिक शिष्य परम्परा में गुरुजन अपने कथनों को सदा प्रामाणिक स्रोतों से सुने गये कथनों पर आधारित करते हैं, निजी अनुभव पर कभी नहीं। अपने प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा वस्तुओं को समझने का प्रयास ज्ञान प्राप्त करने की भौतिक विधि है जिसे *प्रत्यक्ष* कहते हैं। वैदिक विधि इससे भिन्न है। यह *श्रुति* कहलाती है, जिसका अर्थ है, "प्रामाणिक स्रोतों से श्रवण करना।" वैदिक ज्ञान का यही रहस्य है।

आपको अपनी अपूर्ण इन्द्रियों के आधार पर उन वस्तुओं को समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए, जो आपकी प्रयोगात्मक शक्ति के परे हैं। यह सम्भव नहीं है। मान लीजिये कि आप यह जानना चाहते हैं कि आपका पिता कौन है। क्या आप प्रयोग द्वारा इसका पता लगा सकते हैं? क्या यह सम्भव है? नहीं। तो आप किस तरह जान सकते हैं कि आपका पिता कौन है? उचित अधिकारी अर्थात् अपनी माता से सुन कर। यह साधारण ज्ञान की बात है। यदि आप प्रयोगात्मक विधि से अपने भौतिक पिता को नहीं जान सकते हैं, तो आप इस प्रयोगात्मक विधि से परम पिता को कैसे जान सकते हैं? कृष्ण आदि पिता हैं। वे आपके पिता के पिता के पिता हैं, इत्यादि। अतः यदि आप इस प्रयोगात्मक विधि से अपने ही पिता को अर्थात् पिछली पीढ़ी को ही नहीं जान सकते, तो भला इस तरह से आप ईश्वर या कृष्ण को कैसे जान सकते हैं?

लोग प्रयोगात्मक विधि से ईश्वर को खोजते हैं, किन्तु काफी खोज के बाद वे असफल हो जाते हैं। तब वे कहते हैं, "ओह! ईश्वर

नहीं है। मैं ही ईश्वर हूँ।'' किन्तु *ईशोपनिषद्* कहती है कि मनुष्य को प्रयोगात्मक विधि से नहीं, अपितु सुनकर (श्रुति के माध्यम से) ईश्वर के विषय में जानने का प्रयास करना चाहिए। कोई किससे सुने? क्या किसी दूकानदार से? क्या किसी धर्मान्ध व्यक्ति से? नहीं। मनुष्य को धीर व्यक्तियों से सुनना चाहिए। धीर का अर्थ है ''वह जिसकी इन्द्रियाँ भौतिक प्रभाव से उत्तेजित नहीं होती।''

उत्तेजना कई प्रकार की होती है—मन की, वाक्शक्ति की, क्रोध की तथा जीभ, उदर एवं जननांगों की। जब हम क्रुद्ध होते हैं, तो सब कुछ भूल जाते हैं और कोई भी बेहूदगी कर सकते हैं तथा अनाप-शनाप बोल सकते हैं। जीभ की उत्तेजना के लिए नाना प्रकार के विज्ञापन आते हैं ''यह है शराब, यह है मुर्गी का मांस, यह है गोमांस।'' क्या हम शराब, मुर्गी के मांस या गोमांस के बिना मर जाएँगे? नहीं। कृष्ण ने खाने के लिए मनुष्यों को अनेकानेक अच्छी वस्तुएँ दे रखी हैं यथा अन्न, दुग्ध, फल आदि।

गाय प्रचुर दूध देती है—वह भी अपने लिए नहीं, अपितु मनुष्यों के लिए। यही उचित मानव आहार है। ईश्वर कहते हैं, ''हे गऊ! यद्यपि तुम दूध देती हो, किन्तु तुम उसे पी नहीं सकती हो। यह उन मनुष्यों के लिए है, जो पशुओं से अधिक उन्नत हैं।'' निस्सन्देह, बचपन में पशु अपनी माता का दूध पीते हैं, अत: बछड़े गाय का कुछ दूध पीते हैं। लेकिन गाय उससे अधिक दूध देती है और यह अधिक मात्रा निश्चय ही हमारे लिए है।

हमारे लिए ईश्वर ने जो उचित भोजन नियत कर दिया है, उसे ही हमें स्वीकार करना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं हो पाता। जीभ की

उत्तेजना-वश हम सोचते हैं, ''मैं अन्न, दुग्ध उत्पाद, शाक तथा फल खाकर ही क्यों संतुष्ट होऊँ? मैं तो कसाईघर चलाऊँगा और इन गौवों का वध करूँगा। जिस तरह मैंने अपनी माता का दूध पिया था उसी प्रकार गायों का दूध पीकर मैं अपनी जीभ की तुष्टि हेतु इनका वध करूँगा।'' आपको ऐसी बेतूकी बातें नहीं सोचनी चाहिए, अपितु आपको धीरों या स्वामियों से सुनना चाहिए, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में की है। स्वामी या गोस्वामी वह है, जो अपनी वाणी, मन, क्रोध, जीभ, उदर तथा उपस्थ रूपी छ: उत्तेजक इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता है।

कालिदास की सुन्दर काव्य कृति *कुमारसम्भव* में शिव को धीर कहा गया है। जब शिव की पत्नी सती ने यह सुना कि अपने पिता द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ में शिव का अपमान किया जा रहा है, तो सतीने आत्महत्या कर ली। अपनी पत्नी की आत्महत्या का समाचार सुनकर शिवजी अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और कहीं अन्यत्र समाधि लगाने के लिए उन्होंने इस ग्रह को छोड़ दिया। उस समय असुरों तथा देवताओं के बीच युद्ध चल रहा था। देवताओं को एक अच्छे सेनापति की आवश्यकता हुई। वे इस निर्णय पर पहुँचे कि यदि शिवजी एक पुत्र उत्पन्न कर दें, तो वह पुत्र असुरों के विरुद्ध युद्ध में उनकी अगवाई कर सकता है। ध्यान करते समय शिवजी पूर्णतया नग्न थे। अत: सती की पुनर्जन्मा पार्वती को उनके जननांगो को संभोग के प्रति उत्तेजित बनाने के लिए भेजा गया। किन्तु वे उत्तेजित नहीं हुए। वे मौन रहे। यहीं पर कालिदास कहते हैं, ''यही एक धीर है। वे नग्न हैं और एक युवती उनके जननाँग का स्पर्श कर रही है, फिर भी वे विचलित नहीं हो रहे हैं।''

धीर का अर्थ है, वह जो उत्तेजित कर देने वाले कारण उपस्थित होने पर भी विचलित न हो। यदि कोई उत्तम भोजन रखा हो, तो उसे चखने के लिए मेरी जीभ को उत्तेजित नहीं होना चाहिए। यदि कोई अति सुन्दर लड़की या लड़का हो, तो भी मुझे कामेच्छा से विचलित नहीं होना चाहिए। इस तरह जो धीर होता है, वह उपर्युक्त छह उत्तेजित बनाने वाली शक्तियों को अपने नियन्त्रण में रखता है। ऐसा नहीं था कि शिवजी नपुंसक थे; वे धीर थे। इसी तरह कृष्ण अनेक बालाओं के साथ नृत्य किये, किन्तु उनमें किसी प्रकार की कामवासना नहीं थी।

अत: आपको किसी ऐसे व्यक्ति से श्रवण करना होगा, जो धीर हो। यदि आप किसी अधीर से सुनेंगे, तो आप जो भी ज्ञान प्राप्त करेंगे वह व्यर्थ होगा। *ईशोपनिषद्* में उद्धृत एक उक्ति है कि एक छात्र अपने गुरु से पूछने के लिए उनके पास जाता है तो गुरु यह कहते हैं, "मैंने जो प्रामाणिक स्रोतों से सुना है वह यही है।" गुरु अपने निजी अनुभव से कोई नया अविष्कार नहीं करते; वे जो सुना रहता है ठीक उसी रूप में उसे प्रस्तुत करते हैं।

इसलिए हमें किसी वस्तु की खोज नहीं करनी है। सब कुछ विद्यमान है। हमें ऐसे धीर व्यक्ति से केवल श्रवण करना है, जो छह प्रकार के वेगों से विचलित नहीं होता। ज्ञान प्राप्त करने की वैदिक विधि यही है। यदि हम किसी अन्य विधि का उपयोग करने की कोशिश करेंगे, तो हम अविद्या से ढके रह जाएँगे।

ईशोपनिषद् कहती है, "जो अविद्या तथा दिव्य ज्ञान की विधि को साथ- साथ सीख सकते हैं, वे ही बारम्बार जन्म-मरण के प्रभाव

को लाँघ सकते हैं और अमरता के पूर्ण वरदान का आनन्द उठा सकते हैं।" लोग यही नहीं समझ पाते कि अमरता है क्या। वे इसे काल्पनिक मत मानते हैं। उन्हें अपने ज्ञान की उन्नति का गर्व रहता है, किन्तु ऐसी अनेक बातें हैं जिन्हें वे नहीं जानते और न ही वे उन्हें प्रयोगों की अपनी आधुनिक पद्धति से कभी जान सकते हैं।

अतएव यदि आप असली ज्ञान चाहते हैं, तो आपको वेदों रूपी साहित्य से यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। (*वेद* शब्द का अर्थ है "ज्ञान") इन्हीं वेदों के अंग स्वरूप १०८ उपनिषद् हैं, जिनमें से ११ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन ग्यारहों में से ईशोपनिषद् सर्वोपरि है। *उपनिषद्* शब्द में *उप* का अर्थ "निकट" है। अत: *ईशोपनिषद्* का ज्ञान आपको कृष्ण के निकट ले जाएगा।

विद्वत्समाज में वेदों को श्रुति (प्रारम्भिक प्रमाण) के रूप में माना जाता है। ये वेद दूषित बद्धजीवों के शोध कार्य द्वारा स्थापित किया गया ज्ञान नहीं है। ऐसे लोगों की इन्द्रियाँ अपूर्ण होती हैं, अत: वे वस्तुओं को यथारूप में नहीं देख सकते। वे केवल सिद्धान्त बघारते हैं, "ऐसा हो सकता है, वैसा हो सकता है।" यह ज्ञान नहीं है। ज्ञान निश्चित होता है, उसमें कोई सन्देह या त्रुटि नहीं रहती। बद्धजीव गलतीयाँ करते हैं, मोहग्रस्त हो जाते हैं और धोखा देते हैं। वे किस तरह धोखा देते हैं? जब कोई *भगवद्गीता* को न समझते हुए भी उस पर टीका लिखता है, तो वह अबोध जनता को धोखा देता है। जिसके पास विद्वान् की उपाधि होती है, वह भगवद्गीता की लोकप्रियता का लाभ उठाकर टीका लिखता है। ऐसे तथाकथित विद्वान दावा करते हैं कि कोई भी व्यक्ति अपना खुद का मत व्यक्त कर सकता है। किन्तु

भगवद्गीता में कृष्ण कहते हैं कि केवल उनके भक्त ही *गीता* को समझ सकते हैं। अत: ये तथाकथित विद्वान धोखा दे रहे होते हैं।

निष्कर्ष यह है कि यदि आप यथार्थ आध्यात्मिक ज्ञान चाहते हैं, तो आपको ऐसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना होता है, जिसने परम सत्य को जान लिया हो। अन्यथा आप अन्धकार में रहेंगे। आप यह नहीं सोच सकते, "ओह! मैं चाहे गुरु बनाऊँ या न बनाऊँ। कुछ भी हो, पुस्तकें तो हैं ही जिनसे मैं सीख सकता हूँ।" किन्तु नहीं। वैदिक आदेश है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्। गच्छेत्* शब्द का अर्थ है "अवश्य जाएं"। ऐसा नहीं कि चाहे तो जाएं, चाहे तो न जाएं। दिव्य ज्ञान को समझने के लिए गुरु के पास जाना ही चाहिए। यही वैदिक आदेश है।

आपको दो बातें जाननी चाहिए : माया क्या है और कृष्ण क्या हैं। तभी आपका ज्ञान पूर्ण है। निस्सन्देह, कृष्ण इतने अच्छे हैं कि यदि आप किसी भी तरह से उनके पूर्ण शरणागत होते हैं, तो आपको ज्ञान की खोज करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। तब आप न केवल यह जान सकेंगे कि कृष्ण क्या है, अपितु आप स्वत: समझ जाएँगे कि माया क्या है। कृष्ण आपको भीतर से बुद्धि प्रदान करेंगे।

अत: गुरु तथा कृष्ण दोनों की कृपा से मनुष्य भक्तिमय सेवा अपनाता है। सो कैसे? उनकी कृपा समानान्तर पटरियों पर चलती है। यदि आपको अभी तक कोई गुरु नहीं मिले हैं, किन्तु आप निष्ठावान हैं, तो कृष्ण आपको प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचा देते हैं। और यदि आप प्रामाणित गुरु पा जाते हैं, तो वे आपको कृष्ण के पास ले जाएंगे। कृष्ण आपके हृदय में सदैव *चैत्य*-गुरु—भीतर के गुरु के

रूप में आसीन रहते हैं। इसी *चैत्य गुरु*स्वयं को बाह्य गुरु के रूप में प्रकट करते हैं। इसलिए गुरु कृष्ण के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि होते हैं।

ईशोपनिषद् कहती है कि हमें विद्या तथा *अविद्या* को जानना चाहिए। अविद्या भौतिक ज्ञान के छद्म वेष में अज्ञान है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने अपने एक गीत में लिखा है कि "भौतिक ज्ञान की प्रगति केवल *माया* के दायरे की प्रगति है।" आप भौतिक ज्ञान में जितना ही अधिक बँधते उलझते जाएँगे, उतना ही कम कृष्णभावनामृत को समझ पाएँगे। भौतिक ज्ञान में बढ़े-चढ़े लोग सोचते हैं, "इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन से क्या लाभ?" उनमें आध्यात्मिक ज्ञान के लिए कोई आकर्षण नहीं रहता; वे *अविद्या* में अत्यधिक तल्लीन रहते हैं।

कुछ भारतीय किशोर भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का तिरस्कार करके प्रौद्योगिकी सीखने के लिए पश्चिम में आते हैं। जब वे यह देखते हैं कि जिन वस्तुओं को उन्होंने भारत में तिरस्कृत कर दिया था, उन्हें ही मैंने पश्चिम में चालू कर दिया है, तो उन्हें आश्चर्य होता है। पश्चिम में मेरे आने का एक कारण यह है कि आधुनिक भारत ने आध्यात्मिक ज्ञान को ठुकरा दिया है। आज भारतीय सोचते हैं कि यदि वे पाश्चात्य टेक्नालाजी का अनुकरण कर सकें तो वे सुखी बन सकेंगे। यह माया है। वे यह नहीं देखते कि टेक्नालाजी में भारतीयों से तीन सौ गुना अधिक बढ़े-चढ़े लोग भी सुखी नहीं हैं। भारत न तो अमरीकी, न ही यूरोपीय टेक्नालाजी की कम से कम अगले ३०० वर्षों तक बराबरी कर सकेगा, क्योंकि पाश्चात्य देश दीर्घकाल से टेक्नालाजी का विकास करते रहे हैं। किन्तु सृष्टि के

आदिकाल से भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति रहती आई है।

विद्या या सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान प्रौद्योगिकी पर निर्भर नहीं होता। श्रील व्यासदेव वैदिक ज्ञान के आदि गुरु हैं। वे किस तरह रह रहे थे? बदरिकाश्रम में एक कुटी में। लेकिन उनके ज्ञान को तो देखिये! उन्होंने अनेक *पुराण* लिखें जिनमें *श्रीमद्भागवत* सम्मिलित है। उन्होंने ही *वेदान्त-सूत्र* तथा *महाभारत* भी लिखें हैं। यदि आपको व्यासदेव द्वारा लिखित हर पंक्ति पढ़नी हो, तो आपका सारा जीवन लग जाएगा। अकेले *श्रीमद्भागवत* में १८,००० से कम श्लोक नहीं हैं और हर श्लोक इतना सारगर्भित है कि उसे पूरी तरह समझने में सारा जीवन लग जाएगा। यह है वैदिक संस्कृति।

वैदिक वाङ्मय में जो ज्ञान निहित है—न केवल आध्यात्मिक ज्ञान अपितु भौतिक ज्ञान भी—वह अतुलनीय है। वेदों में खगोल विज्ञान, गणित एवं अनेक अन्य विषयों की चर्चा है। ऐसा नहीं है कि प्राचीनकाल में विमान नहीं थे। पुराणों में इनका उल्लेख किया गया है। ये विमान इतने सुदृढ़ तथा तेज होते थे कि वे आसानी से अन्य ग्रहों तक जा सकते थे। ऐसा नहीं है कि वैदिक युग में भौतिक ज्ञान की उन्नति नहीं हुई थी। उन्नति थी। लेकिन तब लोग इसे इतना महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे। उनकी रुचि आध्यात्मिक ज्ञान में थी।

अत: मनुष्य को जानना चाहिए कि विद्या (ज्ञान) क्या है और अविद्या क्या है। यदि हम अविद्या अर्थात् भौतिक ज्ञान में प्रगति करेंगे, तो हमें बारम्बार जन्म लेना तथा मरना होगा। इतना ही नहीं, इसकी कोई गारन्टी नहीं कि आपका अगला जन्म क्या होगा। यह आपके हाथ में नहीं है। आज आप अमरीकी होने के नाते सुखी हैं,

किन्तु इस शरीर को त्यागने के बाद आपका कोई आदेश नहीं चलेगा कि "मुझे फिर से अमरीकी शरीर प्रदान कीजिए।" हाँ, आपको अमरीकी शरीर प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह एक अमरीकी गाय का हो सकता है। तब तो आपके भाग्य में कसाईघर जाना लिखा है।

इसलिए भौतिक ज्ञान का अनुशीलन—राष्ट्रवाद, समाजवाद, यह 'वाद', वह 'वाद'—केवल समय का घोर अपव्यय है। अच्छा हो कि असली ज्ञान अर्थात् वैदिक ज्ञान का अनुशीलन किया जाये, जो कृष्ण की शरण तक ले जाने वाला है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१९) में कृष्ण कहते हैं—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।* सच्चे ज्ञान वाला व्यक्ति अनेकानेक जन्मों के बाद कृष्ण के पास आता है और यह सोचकर उनकी शरण ग्रहण करता है कि "हे कृष्ण! आप सर्वस्व हैं।" ज्ञान के समस्त अनुशीलन का यही अन्त है।

ब्रह्म के श्वेत प्रकाश से परे

ईशोपनिषद् कहती है, मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा उनके दिव्य नाम को तथा नाशवान् भौतिक सृष्टि के साथ-साथ उसके नश्वर देवताओं, मनुष्यों तथा पशुओं के बारे में ठीक से जाने। जब वह इन्हें जान लेता है, तो वह मृत्यु तथा उसी के साथ इस अस्थायी विराट प्राकट्य को पार कर जाता है और ईश्वर के शाश्वत साम्राज्य में पहुँच कर आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन का भोग करता है। "हे प्रभु! हे समस्त जीवों के पालनकर्ता! आपका असली मुखमण्डल चौंधा देने वाले तेज से आच्छादित है। कृपया इस आवरण को हटा लीजिये और अपने शुद्ध भक्तों को अपना दर्शन दीजिए।"

यहाँ पर *ईशोपनिषद्* ईश्वर के साम्राज्य का वर्णन करती है। हर लोक का, चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक, एक अधिष्ठाता देव होता है। उदाहरणार्थ, सूर्य लोक का अधिष्ठाता देव विवस्वान है। इसकी जानकारी हमें *भगवद्गीता* से प्राप्त होती है। इस तरह भौतिक आकाश के भीतर लाखों, करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में लाखों-करोड़ों ग्रह हैं तथा हर ग्रह में एक अधिष्ठाता देव होता है।

भौतिक आकाश से परे *ब्रह्मज्योति* या आध्यात्मिक आकाश है जहाँ असंख्य वैकुण्ठ ग्रह हैं। हर वैकुण्ठ ग्रह में नारायण रूप में भगवान् का प्रधानत्व रहता है और हर नारायण का भिन्न नाम होता है, यथा प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण आदि। इन ग्रहों को कोई देख नहीं सकता, क्योंकि वे आध्यात्मिक *ब्रह्मज्योति* से आच्छादित हैं, जिस तरह चौंधाने वाले सूर्य-प्रकाश के कारण सूर्यमण्डल को नहीं देखा जा सकता। आध्यात्मिक आकाश में यह तेज कृष्णलोक—गोलोक वृन्दावन—से आता है, जो कि वैकुण्ठ से भी ऊपर है और जहाँ पर एकमात्र कृष्ण ही अधिष्ठाता हैं।''

परम सत्य कृष्ण का ग्रह ब्रह्मतेज से आच्छादित है। भगवान् का दर्शन पाने के लिए इस तेज को पार करना पड़ता है। इसलिए *ईशोपनिषद्* में भक्त प्रार्थना करता है, ''कृपया अपने तेज को हटाइये, जिससे मैं आपका दर्शन कर सकूँ।'' मायावादी दार्शनिक यह नहीं जानते कि *ब्रह्मज्योति* से परे भी कुछ है। किन्तु यहाँ पर ईशोपनिषद् में इस बात का वैदिक प्रमाण है कि *ब्रह्मज्योति* केवल सुनहरे तेज का आवरण है, जो परमेश्वर के असली मुखमण्डल को ढके हुए है।

भाव यह है कि कृष्णलोक तथा वैकुण्ठलोक ब्रह्मतेज से परे हैं

और केवल भक्त ही इन आध्यात्मिक लोकों में प्रविष्ट हो सकते हैं। ज्ञानीजन, मानसिक तर्कवादी ब्रह्मतेज में प्रवेश करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु कृष्ण द्वारा मारे गये असुर तक तुरन्त ही ब्रह्मतेज में भेज दिये जाते हैं। इसलिए जरा विचार कीजिए—कृष्ण के शत्रुओं को जो स्थान दिया जाता है, क्या वह इतना इच्छा करने योग्य है? यदि मेरा शत्रु मेरे घर आता है, तो मैं उसे ठहरने के लिए कोई स्थान दे सकता हूँ, किन्तु यदि मेरा घनिष्ठ मित्र आता है, तो मैं उसके ठहरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान देता हूँ। अतः यह ब्रह्मतेज तनिक भी अभिलषित नहीं है।

श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने एक सुन्दर श्लोक रचा है, जिसमें वे कहते हैं कि जिस भक्त ने भगवान् की कृपा प्राप्त कर ली हो, उसके लिए ब्रह्मतेज नरक तुल्य है। तो फिर स्वर्ग के विषय में क्या कहा जाये? *कर्मीजन* स्वर्ग लोक जाने के लिए अत्यधिक इच्छुक रहते हैं, क्योंकि वहाँ पर देवतागण निवास करते हैं। किन्तु भक्तों के लिए स्वर्ग एक छलावे की भाँति है। वे वहाँ जाने के लिए तनिक भी लालायित नहीं रहते। और फिर योगीजन हैं, जो विशेष शक्तियाँ पाने के लिए इन्द्रियों को वश में करने के लिए कठिन प्रयास करते हैं। इन्द्रियाँ तो विषधर सर्पों की तरह हैं, क्योंकि ज्योंही आप इन्द्रियतृप्ति में लिप्त होते हैं—ज्योंही इन्द्रियाँ आपको डसती हैं—त्योंही आप नीचे गिर जाते हैं। किन्तु भक्त कहता है, ''मैं इन इन्द्रिय रूपी विषधर सर्पों से नहीं डरता।'' क्यों? ''क्योंकि मैंने उनके विषदन्त निकाल लिये हैं।'' दूसरे शब्दों में, भक्त अपनी इन्द्रियों को कृष्ण की सेवा में लगाकर इन्द्रिय-तृप्ति में लिप्त होने के लिए लालायित नहीं रहता।

इस तरह उसकी इन्द्रियाँ उसे घसीट कर जीवन की नारकीय दशा में नहीं पहुँचा सकती।

इस तरह भक्तगण *कर्मियों, ज्ञानियों* तथा *योगियों* से ऊपर हैं। भक्तों का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि केवल भक्ति द्वारा ही ईश्वर को समझे जा सकते हैं। कृष्ण यह नहीं कहते कि आप उन्हें सकाम कर्म द्वारा समझा सकते हैं। वे यह नहीं कहते कि आप उन्हें तर्कवितर्क द्वारा समझ सकते हैं। वे यह नहीं कहते कि आप उन्हें योग शक्ति द्वारा समझ सकते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं (*भगवद्गीता* १८.५५) *भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:*—"मुझे केवल भक्ति द्वारा यथारूप में सही सही समझा जा सकता है।"

भक्ति के अलावा परम सत्य को समझने की कोई सम्भावना नहीं है। अन्य कोई भी विधि अपूर्ण है, क्योंकि वह तर्क पर आधारित रहती है। उदाहरणार्थ, विज्ञानी भले ही इसका तर्क करें कि सूर्यलोक क्या है, क्योंकि वे वहाँ तक पहुँच नहीं सकते, अत: वे वास्तव में यह नहीं जान सकते कि सूर्यलोक है क्या। वे केवल कल्पना कर सकते हैं। बस। एक बार तीन अंधे व्यक्ति एक हाथी के पास आए। वे हाथी को टटोलने लगे तथा यह कल्पना करने लगे कि वह क्या है। एक ने उसकी बड़ी बड़ी टांगे छुईं तो उसने निष्कर्ष निकाला, "अरे! हाथी तो खम्भे जैसा है।" दूसरे व्यक्ति ने सूँड़ छुई तो यह निष्कर्ष निकाला, "अरे! यह हाथी तो सर्प की तरह है।" तीसरे व्यक्ति ने हाथी का पेट टटोला; तो उसने निष्कर्ष निकाला, "यह हाथी एक बड़ी नाव जैसा है।" किन्तु वास्तव में वे तीनों अंधे व्यक्ति यह नहीं जानते थे कि असल में हाथी क्या होता है।

यदि आपमें किसी वस्तु को देखने की क्षमता नहीं है, तो आप उसके बारे में केवल कल्पना ही कर सकते हैं। इसलिए *ईशोपनिषद्* कहती है, "कृपया अपने मुखमण्डल पर से यह तीव्र ज्योति के आवरण को हटाइये, जिससे मैं आपका दर्शन कर सकूँ।" यह देखने की शक्ति कृष्ण द्वारा भक्त को प्रदान की जाती है, जब वे उस भक्त में अपने प्रति प्रेम को देख लेते हैं। *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरित-भक्ति-विलोचनेन*—भक्तगण अपनी आँखों में ईश्वर प्रेम का अंजन लगाते हैं, इसलिए वे अपने हृदय के भीतर भगवान् के सुन्दर स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं। भारत में आँख का विशेष अंजन होता है। यदि आप इसे लगा लें, तो आपको तुरन्त ही स्पष्ट दिखने लगेगा। इसी तरह यदि आप अपनी आँखों में भगवद्-प्रेम का अंजन लगा लें, तो आप ईश्वर का सतत दर्शन करेंगे। सेवा द्वारा तथा ईश्वर के प्रति प्रेम बढ़ा कर ईश्वर को समझने का यही सही तरीका है। यह प्रेम एकमात्र भक्तिमय सेवा द्वारा विकसित किया जा सकता है, अन्यथा इसे पाने की कोई सम्भावना नहीं है। अत: ईश्वर के प्रति आप अपने सेवाभाव को जितना बढ़ाएँगे, उतना ही अधिक आप ईश्वर के प्रति अपने सुप्त प्रेम को बढ़ा सकेंगे। और ज्योंही आप ईशप्रेम की पूर्णावस्था को प्राप्त होंगे, आप प्रतिक्षण ईश्वर का दर्शन करेंगे।

* * *

२
दुष्कर्म

श्रीमद्भागवत एक प्राचीन संस्कृत शास्त्र है, जिसमें समस्त वैदिक विद्या का सार निहित है, जो भगवद्भक्तों की शिक्षाओं के साथ साथ भगवान् द्वारा अपने विविध अवतारों में दी गई शिक्षाओं का अंकन करती है। तृतीय स्कन्ध के इस तीसवें अध्याय में कृष्ण के अवतार कपिलदेव ने पापफलों का अति स्पष्ट वर्णन किया है। श्रील प्रभुपाद ने श्लोकों की व्याख्या अपने तात्पर्यों में की है।

श्लोक १—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा : "जिस प्रकार बादलों का समूह वायु के शक्तिशाली प्रभाव से परिचित नहीं होता, उसी प्रकार भौतिक चेतना में संलग्न व्यक्ति काल की उस प्रबल शक्ति से परिचित नहीं होता, जिसके द्वारा वह बहाए लिये जा रहा है।"

तात्पर्य—महान् राजनीतिज्ञ-*पंडित* चाणक्य ने कहा है कि यदि कोई लाखों डॉलर भी खर्च करने को तैयार हो, तो भी समय (काल) का एक पल भी वापस नहीं लाया जा सकता। बहुमूल्य समय को बर्बाद करने से अकल्पनीय क्षति होती है। मनुष्य के पास जितना समय है, उसे भौतिक या आध्यात्मिक कार्यों में सावधानी से लगाया

जाना चाहिए। बद्धजीव किसी शरीर में एक निश्चित समय तक रहता है और शास्त्रों में इस बात की संस्तुति की गई है कि उसी अल्पावधि में मनुष्य कृष्णभक्ति पूरी करके काल के प्रभाव से छुटकारा पा ले। किन्तु दुर्भाग्यवश जो कृष्णभावनामृत में नहीं हैं, वे अनजाने ही काल की प्रबल शक्ति के द्वारा उसी प्रकार बहा लिये जाते हैं, जिस प्रकार वायु के द्वारा बादल।

* * *

श्लोक २—"तथाकथित सुख के लिए भौतिकतावादी के द्वारा जो वस्तुएँ अत्यन्त कष्ट तथा परिश्रम से उत्पन्न की जाती हैं, उन्हें काल-रूप से भगवान् नष्ट कर देते हैं, और इसी कारण बद्धजीव शोक करता है।"

तात्पर्य—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रतिनिधि-रूप काल का मुख्य कार्य प्रत्येक वस्तु को नष्ट करना है। भौतिकतावादी लोग भौतिक चेतना के कारण आर्थिक विकास के नाम पर अनेक वस्तुएँ उत्पन्न करने में लगे हुए हैं। वे सोचते हैं कि लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करके वे सुखी हो सकेंगे, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि उनके द्वारा उत्पन्न की गई प्रत्येक वस्तु काल-क्रम में नष्ट हो जाएगी। इतिहास हमें बताता है कि इस भूमण्डल पर न जाने कितने शक्तिशाली साम्राज्यों का निर्माण कितने कष्ट तथा अध्यवसाय के फलस्वरूप हुआ, किन्तु काल-क्रम में वे सब नष्ट हो गये। फिर भी मूर्ख भौतिकतावादी यह नहीं समझ पाते कि तथाकथित भौतिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ उत्पन्न करने में वे केवल समय का

अपव्यय कर रहे हैं, क्योंकि ये सारी वस्तुएँ काल-क्रम में नष्ट हो जाएँगी। शक्ति का यह अपव्यय उस जनसमूह के अज्ञान के कारण है, जो यह नहीं जानता कि मनुष्य सनातन हैं और उनका कार्य भी सनातन है। वे यह नहीं जानते कि किसी शरीर-विशेष में जीवन की अवधि (आयु) शाश्वत यात्रा की एक क्षणिक चमक मात्र है। इस तथ्य को न जानने के कारण वे वर्तमान जीवन की इस अल्प चमक को सब कुछ मान बैठते हैं और अपना समय आर्थिक परिस्थितियों को सुधारने में नष्ट कर देते हैं।

* * *

श्लोक ३—"दिग्भ्रमित भौतिकतावादी व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसका यह शरीर अस्थायी है और घर, जमीन तथा सम्पत्ति के सारे आकर्षण भी क्षणिक हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध इसी शरीर से है। अपने अज्ञान के कारण ही वह हर वस्तु को स्थायी मानता है।"

तात्पर्य—भौतिकतावादी सोचता है कि कृष्णभावनामृत में लगे व्यक्ति सनकी होते हैं जो हरे कृष्ण कीर्तन में समय गँवाते हैं, किन्तु वास्तव में वह यह नहीं सोच पाता कि वह स्वयं सनक के गहन अंधकार में है, क्योंकि वह अपने शरीर को स्थायी मान बैठा है। अपने शरीर के संदर्भ में वह अपने घर, देश, समाज तथा अन्य साज-सज्जा को भी स्थायी मान लेता है। घर, जमीन आदि को भौतिक स्तर पर स्थायी मान बैठना माया का मोह कहलाता है। इसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है। *मोहाद् गृह-क्षेत्र-वसूनि*—मोहवश ही भौतिकतावादी अपने घर, अपनी भूमि तथा अपने धन को स्थायी मानता है। इसी

मोह से पारिवारिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन तथा आर्थिक विकास में बढ़ोतरी होती है, क्योंकि आधुनिक सभ्यता में ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक हैं। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जानता है कि मानव समाज का यह आर्थिक विकास केवल क्षणिक मोह है।

श्रीमद्भागवत में अन्यत्र, शरीर को स्वयं मानना, इस शरीर के संदर्भ में अन्यों को अपना परिजन मानना तथा अपनी जन्मभूमि को पूज्य मानना पाशविक सभ्यता की उपज घोषित किए गये हैं। किन्तु कृष्णभावनाभावित होने पर व्यक्ति इन सबका उपयोग भगवान् की सेवा के लिए कर सकता है। यह अति उपयुक्त प्रस्ताव है। हर वस्तु का सम्बन्ध कृष्ण से होता है। जब समस्त आर्थिक विकास तथा भौतिक प्रगति का उपयोग कृष्णभावनामृत के उद्देश्य को अग्रसर करने में किया जाता है, तो प्रगतिशील जीवन का एक नवीन पक्ष उदित होता है।

* * *

श्लोक ४—"जीव जिस योनि में जन्म लेता है, उसको उस योनि में एक विशेष प्रकार की तुष्टि प्राप्त होती है और वह उस अवस्था में रहते रहने से कभी विरुचिपूर्ण नहीं होता।"

तात्पर्य—किसी शरीर विशेष में, चाहे वह कितना ही गर्हित क्यों न हो, जीव को जो सन्तोष मिलता है वह मोह कहलाता है। उच्चतर स्थिति में रहने वाला मनुष्य विम्न श्रेणी के जीवनस्तर से असन्तुष्ट रह सकता है, किन्तु बहिरंगा शक्ति अर्थात् *माया* के प्रभाव से निम्न श्रेणी का मनुष्य उसी स्थिति में सन्तुष्ट रहता है। *माया* के

कार्य की दो अवस्थाएँ हैं। पहली *प्रक्षेपात्मिका* तथा दूसरी *आवरणात्मिका* कहलाती है। *प्रक्षेपात्मिका* का अर्थ है, ''नीचे गिराने वाली'' तथा *आवरणात्मिका* का अर्थ है ''ढक देने वाली''। भौतिकतावादी मनुष्य या पशु किसी भी जीवन-अवस्था में सन्तुष्ट रहेगा, क्योंकि उसका ज्ञान माया के प्रभाव से ढका हुआ है। निम्न जीवन श्रेणी में या निम्न योनियों में चेतना का विकास इतना कम हुआ रहता है कि उसे यह नहीं समझ आता कि वह सुखी है या दु:खी। यह आवरणात्मिका कहलाती है। यहाँ तक कि विष्ठा खाकर जीने वाला शूकर भी अपने को सुखी समझता है, यद्यपि उच्चतर श्रेणी का व्यक्ति यह देखता है कि कितना गर्हित है ऐसा जीवन।

* * *

श्लोक ५—''माया के आवरणात्मक प्रभाव से मोहित जीव अपने शरीर को त्यागने में रंचभर उन्मुख नहीं होता, भले ही वह नरक में क्यों न हो, क्योंकि उसे नारकीय भोग में आनन्द मिलता है।''

तात्पर्य—कहा जाता है कि एक बार स्वर्ग के राजा इन्द्र को उसके गुरु बृहस्पति ने उसके दुर्व्यवहार के लिए शाप दे दिया, जिससे वह इस लोक में आकर शूकर बन गया। बहुत समय बाद जब ब्रह्मा ने उसे स्वर्ग बुलाना चाहा, तब तक वह शूकर-रूपी इन्द्र स्वर्ग के अपने राजसी ठाट-बाट के बारे में सब कुछ भूल चुका था, अत: उसने वहाँ जाने से इनकार कर दिया। यह माया का पाश है कि इन्द्र तक अपना स्वर्गिक जीवन-स्तर भूलकर शूकर के जीवन-स्तर से सन्तुष्ट हो गया।

माया के प्रभाव से बद्धजीव अपने शरीर विशेष के प्रति इतना स्नेहिल हो उठता है कि यदि उससे यह कहा जाए कि, ''इस शरीर को त्याग दो, तुम्हें तुरन्त ही राजा का शरीर प्रदान किया जाएगा'' तो वह राजी नहीं होगा। यह आसक्ति सारे बद्धजीवों को बुरी तरह प्रभावित करती है। भगवान् कृष्ण स्वयं यह घोषित करते हैं, ''इस भौतिक संसार की प्रत्येक वस्तु का त्याग करो। मेरे पास आओ और मैं तुम्हें पूर्ण सुरक्षा प्रदान करूँगा।'' किन्तु यह हमें स्वीकार्य नहीं। हम सोचते हैं, ''हम ठीक से हैं। हम श्रीकृष्ण की शरण क्यों लें और भगवद्धाम वापस क्यों जाएँ?'' यही मोह या माया है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन-स्तर से सन्तुष्ट रहता है, भले ही वह कितना ही गर्हित क्यों न हो।

* * *

श्लोक ६—''अपने शरीर, पत्नी, घर, सन्तान, पशु, सम्पत्ति और मित्रों के प्रति प्रगाढ़ आकर्षण के कारण अपने जीवन स्तर के प्रति इस प्रकार का सन्तोष होता है। ऐसी संगति में बद्धजीव अपने आपको भलीभाँति पूर्ण मानता है।''

तात्पर्य—मानवजीवन की यह तथाकथित पूर्णता मनगढ़ंत है। इसीलिए कहा जाता है कि कोई भौतिकतावादी व्यक्ति कितना ही योग्य क्यों न हो, यदि वह भगवद्भक्त नहीं है, तो वह सुयोग्य नहीं होता है, क्योंकि वह ऐसे मानसिक धरातल पर मँडराता रहता है, जो उसे क्षणिक भौतिक जीवन की ओर पुन: खींच लाएगा। जो मनुष्य मानसिक धरातल (मनोधर्म) पर कार्य करता है, वह आध्यात्मिक

धरातल तक ऊपर नहीं उठ पाता। ऐसा व्यक्ति पुनः निश्चित रूप से भौतिक जीवन में आ गिरता है। फिर भी, ऐसे तथाकथित समाज, मित्रता तथा प्रेम की संगति में बद्धजीव अपने को पूर्णतया सन्तुष्ट मानता है।

* * *

श्लोक ७—"यद्यपि वह चिन्ता से सदैव जलता रहता है, तो भी ऐसा मूर्ख पूरी न हो सकने वाली आशा के फेर में सभी प्रकार के कुकृत्य करता है कि वह अपने तथाकथित परिवार और समाज का पालन कर सकेगा।"

तात्पर्य—ऐसा कहा गया है कि एक बड़े साम्राज्य को चला पाना आसान है लेकिन एक छोटे परिवार का पालन-पोषण करना आसान नहीं है, विषेशकर आज के समय में जब कलियुग का प्रभाव इतना प्रबल है कि प्रत्येक व्यक्ति माया परिवार के मिथ्या उपहारों को स्वीकार करके कष्ट में रहकर चिन्ताओं से घिरा रहता है। जिस परिवार का हम पालन-पोषण करते हैं, वह *माया* द्वारा निर्मित है। यह कृष्णलोक के परिवार का विकृत प्रतिबिम्ब है। कृष्णलोक में भी परिवार, मित्र, समाज, माता, पिता सब हैं, किन्तु वे सनातन हैं। यहाँ पर हमारे शरीर के बदलने के साथ ही हमारे पारिवारिक सम्बन्ध भी बदल जाते हैं। कभी हम मनुष्यों के परिवार में होते हैं, तो कभी देवताओं के परिवार में और कभी कुत्ते-बिल्लियों के परिवार में।

परिवार, समाज तथा मित्रता क्षणिक हैं, अतः ये *असत्* कहलाते हैं। कहा जाता है कि जब तक हम इस *असत्*—क्षणभंगुर, अस्थायी

समाज तथा परिवार से बँधे रहते हैं, तब तक हम चिन्ताओं से घिरे रहते हैं। भौतिकतावादी यह नहीं जानते कि इस संसार में परिवार, समाज तथा मित्रता छाया मात्र हैं और इस प्रकार से वे उन में आसक्त हो जाते हैं। स्वाभाविक है कि उनके हृदय सदा जलते रहते हैं, किन्तु समस्त असुविधाओं के होने पर भी वे ऐसे झूठे परिवार बनाये रखने के लिए काम करते हैं, क्योंकि उन्हें कृष्ण के साथ वास्तविक पारिवारिक संगित का कुछ ज्ञान नहीं होता।

* * *

श्लोक ८—"वह उस स्त्री को अपना हृदय तथा इन्द्रियाँ दे बैठता है जो झूठे ही उसे *माया* से मोह लेती है। वह उसके साथ एकान्त में आलिंगन और संभाषण का आनंद लेता है और अपने छोटे छोटे बच्चों के मीठे-मीठे शब्दों से मुग्ध हो जाता है।"

तात्पर्य—माया के राज्य के अन्तर्गत पारिवारिक जीवन सनातन जीव के लिए बन्दीगृह के तुल्य होता है। बन्दीगृह में बन्दी के हथकड़ी-बेड़ी से बँधा रहता है। इसी प्रकार बद्धजीव स्त्री के मनोहर सौंदर्य, उसके एकांत आलिंगन तथा उसकी प्रेमवार्ता से एवं अपने छोटे-छोटे बच्चों की मधुर वाणी से जकड़ा रहता है। इस तरह वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है।

इस श्लोक में *स्त्रीणाम् असतीनाम्* शब्द यह संकेत करते हैं कि स्त्री का प्रेम पुरुष के मन को विचलित करने के लिए ही होता है। वस्तुतः इस भौतिक जगत में प्रेम होता ही नहीं है। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अपनी अपनी इन्द्रियतृप्ति में अभिरुचि रखते हैं। इन्द्रियतृप्ति

के लिए स्त्री झूठा प्रेम उत्पन्न करती है और पुरुष इस झूठे प्रेम से मुग्ध होकर अपने वास्तविक कर्म को भूल जाता है। जब ऐसे सम्मिलन से सन्तान उत्पन्न होती हैं, तो अगला आकर्षण होता है इन बच्चों की मीठी (तोतली) बोली से। घर में स्त्री का प्रेम तथा बच्चों की बोली उसे पक्का बन्दी बना देते हैं और इस तरह वह अपना घर नहीं छोड़ सकता। वैदिक भाषा में ऐसा व्यक्ति *गृहमेधी* कहलाता है, जिसका अर्थ है "वह जिसके आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु घर है।" *गृहस्थ* शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जो परिवार, पत्नी, बच्चों के साथ रहता है, किन्तु जिसका वास्तविक जीवनलक्ष्य कृष्णभावनामृत विकसित करना है। इसीलिए मनुष्य को *गृहस्थ* बनने की सलाह दी जाती है, *गृहमेधी* बनने की नहीं। गृहस्थ की मुख्य चिन्ता मोहजनित पारिवारिक जीवन से छूट कर कृष्ण के साथ वास्तविक पारिवारिक जीवन में प्रविष्ट होने की होती है, जबकि गृहमेधी का कार्य तथाकथित पारिवारिक जीवन से अपने को जन्म-जन्मान्तर तक बारम्बार बाँधना और माया के अन्धकार में निरन्तर बने रहना है।

श्लोक ९—"आसक्त गृहस्थ अपने पारिवारिक जीवन में पड़ा रहता है, जो कूटनीति और राजनीति से भरा होता है। वह सदैव दु:खों को बढ़ाता रहता है और इन्द्रियतृप्ति के कार्यों से नियन्त्रित होकर अपने सारे दु:खों के फल का निराकरण करने के लिए कर्म करता रहता है और यदि वह ऐसे दु:खों का सफलतापूर्वक निराकरण कर लेता है, तो वह अपने को सुखी मानता है।"

तात्पर्य— *भगवद्गीता* में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं प्रमाणित करते हैं कि यह संसार अस्थायी ठिकाना है और कष्टों से भरा है।

इस भौतिक जगत में व्यक्तिगत या पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय सुख का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कहीं पर सुख के नाम पर कुछ हो रहा है, तो वह भ्रम है। इस भौतिक जगत में सुख का अर्थ दु:ख के सफलतापूर्वक निराकरण से लगाया जाता है। यह भौतिक जगत ऐसा बनाया गया है कि जब तक मनुष्य चतुर कूटनीतिज्ञ नहीं बन जाता, तब तक उसका जीवन असफल रहता है। मानव समाज की बात क्या कही जाय, निम्न पशुओं, पक्षियों तथा जंगली जानवर भी भोजन, शयन, संभोग तथा सुरक्षा की शारीरिक आवश्यकताएँ चतुराई के साथ पूरी करता है। मानव समाज में राष्ट्रीय स्तर पर या व्यक्तिगत स्तर पर स्पर्धा चलती है और उसमें सफल होने के प्रयास में सारा मानव समाज कूटनीति से भरा हुआ है। किन्तु हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि जीवन-संघर्ष में सारी कूटनीति एवं बुद्धि के होते हुए भी परमेश्वर की इच्छा होने पर सारा कुछ क्षणभर में समाप्त हो जाएगा। फलत: इस भौतिक संसार में सुखी बनने के हमारे सारे प्रयास *माया* द्वारा प्रदत्त छलावा मात्र हैं।

श्लोक १०—वह इधर उधर हिंसा करके धन प्राप्त करता है और यद्यपि वह इसे अपने परिवार के भरण-पोषण में लगाता है, किन्तु स्वयं इस तरह खरीदे भोजन का अल्पांश ही ग्रहण कर पाता है। और वह उन लोगों के लिए नरक जाता है, जिनके लिए उसने अवैध ढंग से धन कमाया था।"

तात्पर्य—एक बँगाली कहावत है, "जिस व्यक्ति के लिए मैंने चोरी की, वही मुझे चोर कहता है।" आसक्त मनुष्य जिन पारिवारिक जनों के लिए अनेक पापकर्म करता है, वे उससे कभी संतुष्ट नहीं

रहते। मोहवश आसक्त व्यक्ति ऐसे पारिवारिक जनों की सेवा करता है, किन्तु इनकी सेवा करने से उसे नारकीय जीवन में प्रवेश करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, एक चोर अपने परिवार-पालन के लिए कोई वस्तु चुराता है, किन्तु वह पकड़ा जाता है और बन्दी बना लिया जाता है। यही सार एवं निष्कर्ष है इस भौतिक अस्तित्व का और भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम के प्रति आसक्ति का। यद्यपि आसक्त पारिवारिक व्यक्ति अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए किसी न किसी तरह से धन कमाने में सदा जुटा रहता है, किन्तु वह उतने से अधिक का भोग नहीं कर पाता, जितना कि ऐसे पापकर्म किये बिना भी कर सकता था। आठ औंस (१ पाव) भोजन खाने वाले मनुष्य को चाहे लम्बे परिवार का पालन करना पड़े और इसके लिए धन कमाना पड़े, फिर भी उसे स्वयं को पेट भर खाने से अधिक कुछ नहीं मिलता। कभी-कभी तो परिवार जनों के बचे-खुचे भोजन पर ही उसे निर्भर रहना पड़ता है। अनुचित साधनों से धन कमा कर भी वह स्वयं जीवन का आनन्द नहीं उठा पाता। यही आवरणात्मिका माया कहलाती है।

समाज, देश तथा समुदाय की भ्रामक सेवा की प्रक्रिया सर्वत्र एक सरीखी होती है। यही सिद्धान्त बड़े राष्ट्रीय नेताओं पर भी लागू होता है। ऐसा राष्ट्रीय नेता जिसने बड़ी बड़ी देश-सेवाएँ की होती हैं, कभी कभी अपने ही देशवासियों द्वारा मार दिया जाता है, क्योंकि उसकी सेवाएँ अनियमित होती हैं। दूसरे शब्दों में, कोई भी व्यक्ति अपने आश्रितों को इस भ्रामक सेवा से सन्तुष्ट नहीं कर सकता, यद्यपि वह सेवा से अपने को अलग नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी

वैधानिक स्थिति ही सेवक होने की है।

जीव स्वाभाविक तौर पर परमेश्वर का अंश है, किन्तु वह भूल जाता है कि उसे परमेश्वर की सेवा करनी है और वह अपना ध्यान दूसरों की सेवा की ओर मोड़ देता है। यह माया कहलाती है। दूसरों की सेवा करते हुए वह झूठे ही अपने को स्वामी मान बैठता है। परिवार का मुखिया अपने को परिवार का स्वामी या राष्ट्र का नेता अपने को राष्ट्र का स्वामी मानता है, यद्यपि वास्तव में वह सेवा कर रहा होता है, और माया की सेवा करने के कारण वह धीरे धीरे नरक को जा रहा होता है। अतः समझदार मनुष्य को कृष्णभावनामृत तक पहुँच कर भगवान् की सेवा में लग जाना चाहिए और अपना सारा जीवन, सारा धन, सारी बुद्धि तथा सारी वाक्शक्ति उसी में लगा देनी चाहिए।

* * *

श्लोक ११-१३—"जब उसे अपनी जीविका कमाने में असफलताएँ हाथ लगती हैं, तो वह अपने को सुधारने का बार-बार यत्न करता है। किन्तु जब उसके सारे प्रयास असफल हो जाते हैं और वह विनष्ट हो जाता है, तो वह अत्यन्त लोभवश दूसरों से धन स्वीकार करता है। इस प्रकार वह अभागा अपने परिवार के भरण-पोषण में असफल होकर समस्त सौंदर्य से विहीन हो जाता है। वह लम्बी लम्बी आहें भरता हुआ सदैव अपनी विफलता के विषय में सोचता रहता है। उसकी पत्नी और अन्य लोग उसे अपना पालन-पोषण करने में असमर्थ देखकर उसे पूर्ववत् सम्मान नहीं देते, जिस तरह कि

एक कंजूस किसान अपने बूढ़े तथा थके-हारे बैलों के साथ पहले जैसा व्यवहार नहीं करता।''

तात्पर्य—न केवल इसी युग में अपितु अनादि काल से अपने परिवार में कोई भी सदस्य ऐसे वृद्ध पुरुष को नहीं चाहता, जो कमाने में असमर्थ हो। यहाँ तक कि वर्तमान युग में भी कुछ जातियों अथवा देशों में बूढ़ों को विष दे दिया जाता है, ताकि वे जितनी जल्दी हो सके मर जाएँ। कतिपय मानवभक्षी जातियों में बूढ़े बाबा को खेल खेल में मार कर उसके माँस की दावत उड़ाई जाती है। यहाँ पर उस किसान का उदाहरण दिया जाता है, जो अपने उस बूढ़े बैल को नहीं चाहता जिसने काम करना बन्द कर दिया है। इसी प्रकार से जब कोई पारिवारिक व्यक्ति वृद्ध हो जाता है और कमा नहीं सकता, तो उसे न तो उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ चाहती हैं न ही परिजन। फलस्वरूप उसकी उपेक्षा होने लगती है—आदर करना तो दूर रहा। अत: यह विवेक-सम्मत होगा कि वृद्धावस्था प्राप्त होने के पूर्व ही पारिवारिक आसक्ति त्याग दी जाये और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण की जाये। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आपको भगवान् की सेवा में लगा दे, जिससे वे उसका दायित्व अपने ऊपर ले सकें और इस तरह वह मनुष्य तथाकथित परिजनों द्वारा उपेक्षित न हो।

* * *

श्लोक १४—''मूर्ख पारिवारिक व्यक्ति गृहस्थ जीवन से विमुख नहीं होता, यद्यपि उसका भरण-पोषण ऐसे लोगों के द्वारा होता है जिन्हें पहले उसने पाला था। वृद्धावस्था के प्रभाव के कारण

विरूपित होने पर अन्तत: वह मृत्यु का सामना करने की तैयारी करने लगता है।''

तात्पर्य—पारिवारिक आकर्षण इतना प्रबल होता है कि मनुष्य अपनी वृद्धावस्था में अपने ही परिवार के सदस्यों द्वारा उपेक्षित होकर भी परिवार के प्रति अपना स्नेह नहीं छोड़ पाता और वह घर में एक कुत्ते के समान बना रहता है। वैदिक जीवन-शैली में मनुष्य को यह सलाह दी जाती है कि अत्यन्त क्षीण होने तथा भौतिक कार्यों में उलझने तथा रुग्ण होने के पूर्व वह गृहस्थ-जीवन त्याग दे और जीवन के शेष दिन पूरी तरह से भगवान् की सेवा करने में लगाए।

अत: वैदिक शास्त्रों का आदेश है कि ज्योंही पचास वर्ष की आयु हो जाये, मनुष्य को चाहिए कि गृहस्थ-जीवन त्याग कर जंगल में एकान्त-वास करे। जब वह अपने को पूरी तरह तैयार कर ले, तो उसे संन्यासी बन जाना चाहिए और दूर दूर तक भ्रमण करते हुए घर घर में आध्यात्मिक जीवन का ज्ञान वितरित करना चाहिए।

* * *

श्लोक १५—''इस तरह वह घर पर पालतू कुत्ते की तरह बना रहता है और उसे उपेक्षा-भाव से जो कुछ भी दिया जाता है, वही खाता है। वह अजीर्ण तथा मन्दाग्नि जैसी अनेक व्याधियों से ग्रस्त होकर केवल कुछ कौर भोजन करता है और अशक्त होने के कारण कोई भी काम नहीं कर पाता।''

तात्पर्य—मृत्यु के पूर्व मनुष्य का रुग्ण और अशक्त होना निश्चित है और जब उसके परिवार के लोग उसकी उपेक्षा करते हैं, तो उसका

जीवन एक कुत्ते से भी बदतर हो जाता है, क्योंकि उसे अनेक कष्टदायक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। अत: वैदिक साहित्य का आदेश है कि ऐसी दयनीय स्थिति प्राप्त होने के पूर्व मनुष्य घर त्याग दे और परिवार की जानकारी के बिना मृत्यु को प्राप्त हो। यदि मनुष्य घर छोड़कर परिवार वालों की जानकारी के बिना मरता है, तो इसे शानदार मृत्यु कहते हैं। किन्तु परिवार से बँधा व्यक्ति चाहता है कि उसके मरने के बाद भी परिवार वाले उसे एक विशाल जुलूस (शवयात्रा) के रूप में ले जाँए; भले ही वह उस जुलूस को देख न पाये फिर भी वह चाहता है कि उसका शरीर एक शानदार जुलूस के रूप में ले जाया जाए। वह इस प्रकार यह जाने बिना प्रसन्न रहता है कि जब वह अपना शरीर छोड़ेगा, तो अगले जन्म में उसे कहाँ जाना होगा।

* * *

श्लोक १६-१७—"उस रुग्ण अवस्था में, भीतर से वायु के दबाव के कारण उसकी आँखें बाहर निकल आती हैं और उसकी ग्रंथियाँ कफ से भर जाती हैं। उसे साँस लेने में कठिनाई होती है और साँस अन्दर लेने और बाहर निकालने पर भीतर से घुर-घुर की आवाज निकलती है। इस प्रकार वह मृत्यु के पाश में बँध कर लेट जाता है, उसके मित्र तथा सम्बन्धी विलाप करते हुए उसे घेरे रहते हैं और उन सबसे बोलने की इच्छा करते हुए भी वह बोल नहीं पाता, क्योंकि वह काल के वश में होता है।"

तात्पर्य—जब मनुष्य मृत्यु-शय्या पर होता है, तो उसके

सम्बन्धीगण शिष्टाचारवश उसके पास आते हैं। कभी कभी मरने वाले व्यक्ति को "हे मेरे पिता! हे मेरे मित्र! हे मेरे पति!" सम्बोधित करके जोर-जोर से रोते चिल्लाते हैं। उस दयनीय अवस्था में मरने वाला व्यक्ति उनसे बोलना चाहता है और उनसे अपनी इच्छाएँ व्यक्त करना चाहता है, किन्तु वह पूर्णतया काल अर्थात् मृत्यु के वश में रहता है, अत: अपने आपको अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इससे उसे अकल्पनीय पीड़ा होती है। वह पहले से रुग्ण होने के कारण पीड़ामयी अवस्था में होता है और उसकी ग्रन्थियाँ तथा गला कफ से अवरुद्ध रहते हैं। वह पहले से ही विकट स्थिति में रहता है और जब उसके सम्बन्धी उसे इस स्थिति में पुकारते हैं, तो उसका शोक और बढ़ जाता है।"

* * *

श्लोस १८—"इस प्रकार जो व्यक्ति अनियंत्रित इन्द्रियों के साथ परिवार के भरण-पोषण में लगा रहता है, वह अपने रोते हुए कुटुम्बियों को देखकर अत्यन्त शोकाकुल होकर मरता है। वह अत्यन्त दयनीय अवस्था में, भयंकर पीड़ा के साथ और चेतना विहीन होकर मरता है।"

तात्पर्य— *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मृत्यु के समय मनुष्य उन्हीं विचारों में खो जाता है, जिनका उसने जीवन भर अनुशीलन किया है। जिस व्यक्ति ने जीवन भर अपने परिवार के भली-भाँति भरण-पोषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचा हो, तो उसके अन्तिम विचारों में पारिवारिक बातें ही घूमती रहेंगी। सामान्य व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक है। सामान्य व्यक्ति अपने जीवन की नियति को नहीं

जानता, वह अपने छोटे से वर्तमान जीवनकाल में केवल परिवार के भरण-पोषण के कार्य करता रहता है। अन्तिम अवस्था में किसी को सन्तोष नहीं होता कि वह परिवार की आर्थिक दशा कितना सुधार पाया; हर एक व्यक्ति यही सोचता है कि वह पर्याप्त साधन नहीं दे पाया। परिवार के प्रति प्रगाढ़ स्नेह के कारण वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने तथा अपनी आध्यात्मिक चेतना को सुधारने के मुख्य कर्तव्य को भूल जाता है। कभी कभी मरणासन्न व्यक्ति परिवार का भार अपने पुत्र या अन्य सम्बन्धी को सौंपते हुए कहता है, "मैं तो जा रहा हूँ, किन्तु तुम परिवार की देखभाल करना।" वह यह नहीं जानता कि वह कहाँ जा रहा है, किन्तु मृत्यु के समय भी वह चिन्तित रहता है कि उसके परिवार का निर्वाह किस प्रकार होगा। कभी कभी यह देखा जाता है कि मरने वाला व्यक्ति वैद्य से यह अनुनय करता है कि वह कम से कम कुछ वर्षों के लिए उसकी आयु बढ़ा दे, जिससे वह परिवार के निर्वाह के लिए प्रारम्भ की गई अपनी योजना पूरी कर सके। बद्धजीव की ये भौतिक व्याधियाँ हैं। वह अपना वास्तविक कार्य—कृष्णभावनामृत को अपनाना—भूल जाता है और अपने परिवार के जीवन-निर्वाह की योजनाओं में ही गम्भीरता से लगा रहता है, यद्यपि उसे एक एक करके अपना परिवार बदलना होता है।"

* * *

श्लोक १९—"मृत्यु के समय उसे अपने समक्ष यमराज के दूत आते दिखते हैं, जिनके नेत्र रोष से पूर्ण रहते हैं। इस तरह वह डर के मारे मल-मूत्र कर देता है।"

तात्पर्य—वर्तमान शरीर को छोड़ने के बाद जीवात्मा का देहान्तरण दो प्रकार से होता है। एक प्रकार का देहान्तरण पापकर्मों के नियामक यमराज के पास जाना है और दूसरा है स्वर्गलोक या वैकुण्ठलोक के उच्चतर ग्रहों को जाना। यहाँ पर भगवान् कपिल बतलाते हैं कि जो लोग परिवार के पालन-पोषण हेतु इन्द्रियतृप्ति से सम्बन्धित कार्यकलापों में लगे रहते हैं, उनके साथ यमदूत कैसा व्यवहार करते हैं। जिन लोगों ने जी भर कर इन्द्रियतृप्ति की होती है, मृत्यु के समय वे यमदूतों की निगरानी में रहते हैं। वे मरने वाले व्यक्ति को पकड़ लेते हैं और उस ग्रह में ले जाते हैं, जहाँ यमराज निवास करते हैं। वहाँ का वर्णन अगले श्लोकों में किया गया है।

* * *

श्लोक २०—"जिस प्रकार किसी अपराधी को दण्डित करने के लिए राजसत्ता के सिपाहियों द्वारा उसे बन्दी बनाया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति में संलग्न अपराधी व्यक्ति को यमदूतों द्वारा बन्दी बनाया जाता है। वे उसे मजबूत रस्सी से गले से बाँध लेते हैं और उसके सूक्ष्म शरीर को ढक देते हैं, ताकि उसे कठोर दण्ड दिया जा सके।"

तात्पर्य—प्रत्येक जीव सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर से ढका हुआ रहता है। सूक्ष्म शरीर मन, अहंकार, बुद्धि और चेतना का आवरण है। शास्त्रों का कथन है कि यमराज के सिपाही (दूत) अपराधी के सूक्ष्म शरीर को ढक करके उसे यमलोक में ले जाते हैं, जहाँ उसे इस तरह दण्ड दिया जाता है, जिसे वह सह सके। वह इस

दण्ड से मरता नहीं, क्योंकि यदि मर गया तो दण्ड कौन भोगेगा? यमराज के सिपाहियों का काम किसी को मारना नहीं होता है। वस्तुत: किसी जीव को मारना सम्भव नहीं, क्योंकि वास्तव में वह सनातन है। उसे तो केवल इन्द्रियतृप्ति के कार्यों का फल भुगतना पड़ता है।

दण्ड की विधि *चैतन्य चरितामृत* में वर्णित है। पहले के समय में राजा के सिपाही किसी अपराधी को नौका द्वारा नदी के मध्य तक ले जाते थे। तब वे उसके बाल पकड़कर उसे पानी में डुबोते थे और पानी में पूरी तरह डुबोने से जब उसका दम घुटने लगता था, तो राजा के सिपाही उसे पानी से बाहर निकाल कर कुछ समय तक साँस लेने देते थे और तब उसे पानी में फिर डुबोते थे ताकि उसका दम घुटने लगे। इसी प्रकार का दण्ड यमराज द्वारा विस्मृत जीवों को दिया जाता है, जिसका वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

* * *

श्लोक २१—"इस प्रकार यमराज के सिपाहियों द्वारा ले जाये जाते समय वह पूरी तरह परास्त हो जाता है और उनके हाथों में तड़पने लगता है। रास्ते में जाते समय उसे कुत्ते काटते हैं और उसे अपने जीवन के पापकर्म याद आते हैं। इस प्रकार वह बुरी तरह से दु:खी हो जाता है।"

तात्पर्य—इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि इस लोक से यमलोक जाते समय यमराज के दूतों द्वारा बन्दी बनाये गये अपराधी को मार्ग में अनेक कुत्ते मिलते हैं, जो उसे इन्द्रियतृप्ति के अपराध-कर्मों का स्मरण कराने के लिए भौंकते हैं और उसे काटते हैं।

भगवद्गीता में कहा गया है कि जब कोई इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से उन्मत्त होता है, तो वह प्राय: अन्धा बन जाता है और सारा ज्ञान खो देता है। वह सब कुछ भूल जाता है। जब कोई इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त होता है, तो उसकी बुद्धि मारी जाती है और वह भूल जाता है कि इसका परिणाम भी उसको भुगतना पड़ेगा। यहाँ पर यमराज द्वारा पाले गये कुत्तों द्वारा उसे अपने इन्द्रियतृप्ति के कार्यों का स्मरण कराने का अवसर दिया जाता है। जब हम स्थूल शरीर में रहते हैं, तो आधुनिक सरकारें भी इन्द्रियतृप्ति के ऐसे कर्मों को प्रोत्साहित करती हैं। सारे विश्व में अनेक देशों की सरकारें ऐसे कर्मों को गर्भनिरोध के रूप में प्रोत्साहन देती हैं—स्त्रियों को गोलियाँ दी जाती हैं और गर्भपात में सहायता लेने के लिए अस्पतालों में जाने की छूट दी जाती है। यह इन्द्रियतृप्ति के परिणाम-स्वरूप चलता रहता है। वस्तुत: सम्भोग अच्छी सन्तान को जन्म देने के लिए है, किन्तु इन्द्रियों पर किसी प्रकार का संयम न रखने से तथा इन्द्रियों को वश में करने की शिक्षा देने वाली संस्थाओं के न होने से बेचारे लोग इन्द्रियतृप्ति के अपराधों के शिकार हो जाते हैं। और मृत्यु के पश्चात् उन्हें किस प्रकार दण्डित किया जाता है, इसका वर्णन *श्रीमद् भागवत* के इन पृष्ठों में हुआ है।

* * *

श्लोक २२-२४—अपराधी को चिलचिलाती धूप में गर्म बालु की सड़कों पर से गुजरना पड़ता है, जिनके दोनों ओर दावाग्नि जलती रहती है। चल न पाने की स्थिती में सिपाही उसकी पीठ पर कोड़े लगाते

हैं और वह भूख-प्यास से व्याकुल होने लगता है। किन्तु दुर्भाग्यवश सड़क पर न तो पीने के लिए पानी मिलता है, न विश्राम करने के लिए कोई स्थान मिलता है। यमलोक को जाने वाले मार्ग पर जाते समय वह थकान के कारण मार्ग पर गिरता-पड़ता जाता है और कभी कभी अचेत हो जाता है, किन्तु उसे पुन: उठने के लिए बाध्य किया जाता है।

इस प्रकार उसे शीघ्रता से यमराज के सामने लाया जाता है। इस तरह उसे ९९,००० योजन की दूरी दो-तीन पलों में पार करनी होती है और तब उसे तुरन्त घोर यातना दी जाती है, जिसे भुगतना उसकी नियति में होता है।''

तात्पर्य—एक योजन आठ मील के बराबर होता है, अत: उसे लगभग ७९२,००० मील लम्बे रास्ते को पार की जाती है। इतनी लम्बी दूरी कुछ क्षणों में ही पार की जाती है। सूक्ष्म शरीर को सिपाही ढके रहते हैं, जिससे जीव इतनी लम्बी दूरी को शीघ्र तय कर ले और साथ ही यातनाएँ सहता चले। यह आवरण यद्यपि भौतिक होता है, किन्तु ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों से बना होता है कि भौतिकतावादी विज्ञानी यह पता नहीं लगा सकते कि यह आवरण किस तत्त्व से बना है। कुछ ही पलों में ७९२,००० मील की यात्रा पूरी कर लेना आधुनिक अन्तरिक्ष यात्रियों को भी असमंजस में डालने वाला होता है। अभी तक वे १८,००० मील प्रति घण्टे की गति से यात्रा कर चुके हैं, किन्तु यहाँ पर हम देखते हैं कि अपराधी ७९२,००० मील की यात्रा कुछ ही पलों में करता है, यद्यपि यह कोई आध्यात्मिक विधि न होकर भौतिक विधि होती है।

* * *

श्लोक २५—''वहाँ उसे जलते काष्ठखण्डों के बीच में रख दिया जाता है और उसके अंगों में आग लगा दी जाती है। कभी कभी उसे अपना मांस स्वंय खाने के लिए बाध्य किया जाता है अथवा अन्यों द्वारा खाने दिया जाता है।''

तात्पर्य—इस श्लोक में तथा अगले तीन श्लोकों में पापी जीव की विविध यातनाओं का वर्णन हुआ है। पहला वर्णन यह है कि अपराधी को आग में जले हुए अपने ही मांस को खाना पड़ता है या वहाँ पर उपस्थित अपने जैसे अन्य लोगों को खिलाना पड़ता है। पिछले महायुद्ध में लोगों को यातना-शिविरों में अपना अपना मल खाना पड़ा था, अत: इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, यदि यमराज के निवास 'यमसदन' में मांसाहारी अपराधी को, जो दूसरे का मांस खाकर मजे करता रहा था, अपना ही मांस खाना पड़ता है।

* * *

श्लोक २६-२८—''उसके जीते जी और उसके देखते देखते नरक के कुत्ते और गीध उसकी अंतड़ियां निकाल लेते हैं और उसे सांपों, बिच्छुओं, तथा अन्य दंशक जन्तुओं से डसवा कर पीड़ा पहुँचाई जाती है। फिर उसके अंग-प्रत्यंग काट डाले जाते हैं और हाथियों से उसे खिचवाया जाता है। उसे पर्वत की चोटियों से नीचे गिराया जाता है और फिर पानी में या गुफा में बंद कर दि जाता है।

जिन पुरुषों तथा स्त्रियों का जीवन अवैध यौनाचार में बीतता है, उन्हें तामिस्र, अन्धतामिस्र तथा रौरव नामक नरकों में नाना प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं।''

तात्पर्य—जीवन संघर्ष में नाना प्रकार की यातनाऐं भोग रहे सारे भौतिकवादी लोगों के जीवन काम वासनाओं पर आधारित होते हैं। अत: वैदिक सभ्यता में केवल सीमित विषयी जीवन की अनुमति दी गई है। यह जीवन विवाहित दम्पति हेतु केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए होता है। किन्तु जब अवैध इन्द्रियतृप्ति के लिए विषयी जीवन का उपयोग अवैध रूप से किया जाता है, तो स्त्री तथा पुरुष दोनों को इसी संसार में, या मरने के बाद कठोर यातना के लिए तैयार रहना होता है। इस लोक में उन्हें सिफलिस तथा गोनोरिया जैसे विषाक्त रोगों द्वारा दण्डित होना पड़ता है और अगले जीवन में उन्हें अनेक नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती है जैसा कि *श्रीमद्भागवत* के इस परिच्छेद में वर्णन हुआ है।

भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में भी विषयी जीवन की अत्यधिक भर्त्सना की गई है और यह कहा गया है कि जो अवैध यौन-संबंधों से सन्तान उत्पन्न करते हैं, वे नरक को जाते हैं। यहाँ पर *भागवत* में इसकी पुष्टि की गई है कि ऐसे अपराधियों को तामिस्र, अन्धतामिस्र और रौरव नरकों में नारकीय स्थितियों में जीवन बिताना पड़ता है।

* * *

श्लोक २९—कपिल मुनि ने कहा, "हे माता! कभी कभी यह कहा जाता है कि इसी लोक में हम नरक अथवा स्वर्ग का अनुभव करते हैं, क्योंकि कभी कभी इस लोक में भी नारकीय यातनाएँ दिखाई पड़ती हैं।"

तात्पर्य—कभी कभी अविश्वासी लोग शास्त्रों के नरक सम्बन्धी इन कथनों को नहीं मानते। अत: भगवान् कपिल उनकी पुष्टि यह कह कर करते हैं कि नारकीय परिस्थितियाँ इस लोक में भी दिखती हैं। ऐसा नहीं है कि ये केवल यमराज के ग्रह में ही हों। यमराज के ग्रह में पापी जन को उन नारकीय परिस्थितियों का अभ्यास करने का अवसर दिया जाता है, जो उसे अगले जीवन में सहनी होंगी और फिर उसे दूसरे ग्रह में यही नारकीय जीवन बिताने के लिए जन्म लेने का अवसर दिया जाता है।

उदाहरणार्थ, यदि मनुष्य को नरक में रहने तथा मल-मूत्र खाने का दण्ड दिया जाता है, तो सबसे पहले उसे यमराज के लोक में ऐसी आदतों का अभ्यास कराया जाता है। फिर उसे वैसा ही विशेष शरीर दिया जाता है, जैसे कि शूकर का शरीर जिससे कि वह मल खा सके और यह सोचे कि वह जीवन का आनन्द उठा रहा है। पीछे यह बताया जा चुका है कि बद्धजीव किसी भी नारकीय परिस्थिति में अपने को सुखी मानता है, अन्यथा उसके लिए नारकीय जीवन को भोग पाना सम्भव नहीं होगा।

* * *

श्लोक ३०—"इस शरीर को त्यागने के पश्चात् वह मनुष्य, जिसने पापकर्मों द्वारा अपना तथा अपने परिवार के सदस्यों का पालन-पोषण किया था, नारकीय जीवन बिताता है और उसके साथ साथ उसके परिवार वाले भी कष्ट सहते हैं।"

तात्पर्य—आधुनिक सभ्यता की यही भूल है कि मनुष्य अगले

जीवन पर विश्वास नहीं करता। किन्तु वह विश्वास करे अथवा न करे, अगला जीवन तो होता ही है और यदि कोई वेदों तथा पुराणों जैसे प्रमाणित शास्त्रों द्वारा सम्मत आदेशों की दृष्टि से उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन नहीं बिताता, तो उसे कष्ट भोगना पड़ता है। मनुष्य जीवन से निम्न स्तर की योनियां अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी नहीं होतीं, क्योंकि उन्हें एक निश्चित विधि से कर्म करने पर बाध्य होना पड़ता है, किन्तु मानवीय चेतना वाले विकसित जीवन में यदि कोई उत्तरदायी ढंग से कर्म नहीं करता, तो निश्चय ही उसे नारकीय जीवन बिताना होगा, जैसा यहाँ पर वर्णित किया गया है।

* * *

श्लोक ३१—"इस वर्तमान शरीर को त्यागने पर वह अकेला नरक के अंधतम भागों में जाता है और अन्य जीवों के साथ ईर्ष्या करके उसने जो धन प्राप्त किया था, वह मार्ग-व्यय (पाप-फल) की तरह उसके साथ जाता है।"

तात्पर्य—जब मनुष्य अनुचित साधनों से धन कमाकर उस धन से अपने परिवार का तथा अपना पालन करता है, तो वह धन यद्यपि परिवार के कई सदस्यों द्वारा भोगा जाता है, किन्तु नरक तो उसे अकेले जाना होता है और अकेले ही ऐसे हिंसक तथा अवैध जीवन के पापकर्मों का फल भोगना पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य किसी को मार कर कुछ धन प्राप्त करता है और उस धन से अपने परिवार का पोषण करता है, तो जो लोग उस काले धन का उपभोग करते हैं, वे भी अंशत: उत्तरदायी होते हैं और उन्हें भी नरक भेजा

जाता है, किन्तु जो प्रमुख होता है उसे विशेष रूप से दण्डित किया जाता है। उसके द्वारा कमाया धन इसी संसार में रह जाता है और वह अपने साथ केवल पापमय कर्म का फल ले जाता है।

इस संसार में भी, यदि कोई मनुष्य किसी की हत्या करके कुछ धन प्राप्त करता है, तो उसके परिवार को फाँसी नहीं दी जाती, यद्यपि उसके सदस्य भी पाप से कलुषित होते हैं। किन्तु जो व्यक्ति हत्या करता है और परिवार का पोषण करता है, उसे ही हत्यारे के रूप में फाँसी दी जाती है। प्रत्यक्ष अपराधकर्ता अप्रत्यक्ष भोक्ता की अपेक्षा पापकर्मों के लिए अधिक जिम्मेदार है। अत: महान विद्वान् चाणक्य पंडित का कथन है कि मनुष्य के पास जो कुछ भी है, उसे सत्कार्य में अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के लिए व्यय कर देना चाहिए, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने साथ अपनी धन-दौलत को नहीं ले जा सकता। धन-दौलत यहीं रह जाती है और नष्ट हो जाती है। अत: या तो हम धन त्यागें, अन्यथा धन हमें त्यागेगा, किन्तु हम दोनों विलग होकर रहेंगे। जब तक धन हमारे पास है, तब तक उसका सर्वोत्तम उपयोग यही है कि उसे कृष्णभावनामृत अपनाने तथा उसका प्रसार करने में व्यय किया जाये।

* * *

श्लोक ३२—"इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की व्यवस्था से परिवार का पोषणकर्ता अपने पापकर्मों को भोगने के लिए नारकीय दशा में रखा जाता है, जैसे कि वह मनुष्य जिसकी सारी सम्पत्ति लुट गई हो।"

तात्पर्य—यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त बताता है कि पापी मनुष्य को वैसा ही कष्ट होता है, जैसा कि किसी मनुष्य को अपनी सम्पत्ति लुट जाने पर। बद्धजीव को अनेक जन्मों के बाद मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है और यह एक बहु-मूल्य निधि है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करने के लिए इस जीवन का उपयोग नहीं करता, वरन् अपने तथाकथित परिवार के पालन-पोषण में ही उसे लगाता है और इस तरह मूर्खतापूर्ण तथा अवैध कर्म करता रहता है, तो वह उस व्यक्ति के सदृश है जो अपनी सारी सम्पत्ति लुट जाने पर शोक करता है। सम्पत्ति लुट जाने पर शोक करने से क्या लाभ? किन्तु जब तक सम्पत्ति रहे, तब तक उसका समुचित उपयोग करके शाश्वत लाभ प्राप्त करना होता है। यहाँ पर यह तर्क दिया जा सकता है कि जब मनुष्य पापकर्मों द्वारा अर्जित धन छोड़ कर मर जाता है, तो वह अपने धन के साथ पापकर्म भी यहाँ छोड़ जाता है। किन्तु यहाँ यह विशेष उल्लेख है कि दैवी व्यवस्था से यद्यपि वह अपने पापकर्म द्वारा अर्जित धन पीछे छोड़ जाता है, किन्तु इसके प्रभाव को अपने साथ लेता जाता है।

यदि कोई व्यक्ति कुछ धन चुरा ले और पकड़ा जाये तथा उस धन को लौटाने के लिए राजी हो जाये, तो भी उसे अपराध-दण्ड से बरी नहीं किया जाता। राज्य के कानून के अनुसार, भले ही वह धन लौटा दे, किन्तु उसे दण्ड भोगना ही पड़ता है। इसी प्रकार अपराध-कर्मों द्वारा अर्जित धन मरते समय वह भले ही यहाँ छोड़ जाये, किन्तु दैवी व्यवस्था के अनुसार इसके फल को वह अपने साथ लेता जाता है, अतः उसे नारकीय जीवन भोगना पड़ता है।

* * *

श्लोक ३३—"अतः जो व्यक्ति कुत्सित साधनों से अपने परिवार तथा कुटुम्बियों का पालन करने के लिए उत्सुक रहता है, वह निश्चय ही अन्ध- तामिस्र नामक गहनतम नरक में जाता है।"

तात्पर्य—इस श्लोक में तीन शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *केवलेन* का अर्थ है "केवल कुत्सित साधनों से," *अधर्मेण* का अर्थ है "पापपूर्ण या अधार्मिक" तथा *कुटुम्ब-भरण* का अर्थ है "परिवार का पालन पोषण"। निश्चय ही, परिवार का पालन करना गृहस्थ का कर्तव्य है, किन्तु जैसा शास्त्रों में बताया गया है, उसे जीविका शास्त्र सम्मत विधि से ही कमानी चाहिए। *भगवद्गीता* में बताया गया है कि भगवान् ने सामाजिक पद्धति को चार वर्णों या जातियों में उनके गुण तथा कर्म के अनुसार विभाजित किया है। *भगवद्गीता* के अतिरिक्त प्रत्येक समाज में मनुष्य उनके गुण तथा कर्म के अनुसार ही जाना जाता है। उदाहरणार्थ, लकड़ी का फर्नीचर बनाकर जीविका कमाने वाला बढ़ई कहलाता है और लोहे तथा निहाई से काम करने वाला लुहार कहलाता है। इसी प्रकार चिकित्सा या इंजीनियरी क्षेत्रों में लगे मनुष्यों के विशेष कार्य तथा उपाधियाँ होती हैं। परमेश्वर ने इन समस्त मानवीय कर्मों को चार वर्णों में विभाजित किया है जिनके नाम हैं *ब्राह्मण* (बुद्धिमान एवं पुरोहित वर्ग), *क्षत्रिय* (योद्धा एवं प्रशासक वर्ग), *वैश्य* (व्यापारी एवं किसान वर्ग) तथा *शूद्र* (श्रमिक वर्ग)। *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक शास्त्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के विशिष्ट कर्तव्यों का उल्लेख है।

मनुष्य को अपनी योग्यता के अनुसार ईमानदारी से काम करना चाहिए। उसे अपनी आजीविका अनुचित ढंग से अथवा जिसके

लिए वह योग्य न हो, उस तरह उपार्जन नहीं करना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण होने का दावा करता है और धर्माचार्य के रूप में कार्य करता है तथा जीवन की आध्यात्मिक शैली के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक लोगों को आकर्षित करता है, किन्तु यदि वह धर्माचार्य के रूप में योग्यता प्राप्त नहीं है, तो वह लोगों के साथ धोखा करता है। मनुष्य को ऐसे अनुचित साधनों से धन नहीं कमाना चाहिए। यही बात *क्षत्रिय* तथा *वैश्य* पर भी लागू होती है। इसका विशेष उल्लेख हुआ है कि जो लोग कृष्णभावनामृत में अग्रसर होना चाहते हैं, उनकी जीविका के साधन अत्यन्त न्यायोचित तथा जटिलता से रहित होने चाहिएँ। यहाँ इसका उल्लेख है कि जो अनुचित साधनों से (*केवलेन*) जीविकोपार्जन करता है, उसे गहनतम नरक में भेजा जाता है। अन्यथा यदि वह शास्त्रोक्त विधियों से तथा ईमानदारी के साथ परिवार का भरण करता है, तो उसके गृहस्थ होने में कोई आपत्ति नहीं है।

* * *

श्लोक ३४—"समस्त कष्टदायक नारकीय परिस्थितियों से गुजरने के बाद तथा मनुष्य-जन्म के पूर्व पशु जीवन के निम्नतम रूपों को विधिपूर्वक पार करने के पश्चात् और इस प्रकार अपने पापों से परिष्कृत हो जाने पर वह इस पृथ्वी पर पुनः मनुष्य के रूप में जन्म लेता है।"

तात्पर्य—जिस प्रकार से बन्दीगृह का कष्टमय जीवन बिताने के बाद व्यक्ति पुनः रिहा कर दिया जाता है, उसी तरह जो व्यक्ति पहले

सदा अपवित्र तथा शरारतपूर्ण कर्म करता रहा है, उसे नारकीय स्थितियों में रखा जाता है और विभिन्न प्रकार के नारकीय जीवन—यथा कुत्ते, बिल्ली, तथा शूकर जैसे निम्न पशुओं के जीवन—बिताने के बाद क्रमशः विकास प्रक्रिया के द्वारा पुनः मनुष्य रूप में आता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि योगाभ्यास में लगे व्यक्ति को यदि सिद्धि प्राप्त न हो सके और वह किसी न किसी कारण से नीचे गिर जाए, तो भी अगले जीवन में उसका मनुष्य होना निश्चित है। यह कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति को जो योग के पथ से च्युत होता है, अगले जन्म में उसे किसी अत्यन्त धनी परिवार में या अत्यन्त पवित्र कुल में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। इससे यह अर्थ लगाया जाता है कि धनी परिवार किसी बड़े व्यापारी कुल का सूचक है, क्योंकि जो लोग व्यापार करते हैं वे प्रायः अत्यन्त धनी होते हैं। जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार में या परम सत्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में लगा रहता है, किन्तु उसे पूरा नहीं कर पाता तो उसे ऐसे धनी परिवार में या पवित्र ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने दिया जाता है। दोनों ही तरह से उसे अगले जीवन में मानव-समाज में जन्म लेने की गारंटी रहती है।

अतः यह निष्कर्ष निकला कि यदि कोई व्यक्ति तामिस्र या अंधतामिस्र जैसे नरक में नहीं जाना चाहता, तो उसे कृष्णभावनामृत की विधि अपनानी चाहिए जो प्रथमकोटि की योगपद्धति है, क्योंकि यदि कोई इस जीवन में पूर्णरूपेण कृष्णभावनामृत को प्राप्त नहीं कर पाता, तो कम से कम अगले जन्म में मानव-परिवार में उसका जन्म निश्चित है। उसे नरक नहीं भेजा जा सकता। कृष्णभावनामृत शुद्धतम

जीवन है और यह सभी मनुष्यों को कूकरों या शूकरों के परिवार में जन्म लेकर नरक में गिरने से बचाता है।

* * *

३
शान्ति का सूत्र

प्रकृति के नियम अलग अलग से तथा एक साथ मिलकर दोनों तरह से कार्य करते हैं। निम्नलिखित संक्षिप्त किन्तु तर्कशील कथन में श्रील प्रभुपाद बतलाते हैं कि यदि हम आज के समाज में कहर ढाने वाले सामूहिक कर्म के उलझे जाल से निकलना चाहते हैं—यदि हम सामूहिक रूप से तथा व्यक्तिगत रूप से शान्ति चाहते हैं—तो हमें गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लेना चाहिए।

आधुनिक सभ्यता की सबसे बड़ी भूल है, दूसरों की सम्पत्ति में इस तरह अपनी टाँग अड़ाना, मानो वह उसकी अपनी ही हो और इस तरह प्रकृति के नियमों में अनावश्यक व्यवधान पैदा करना। ये नियम अत्यन्त प्रबल होते हैं। कोई भी जीव इनका उल्लंघन नहीं कर सकता। केवल ऐसा व्यक्ति ही, जो कृष्णभावनाभावित होता है, प्रकृति के कठोर नियमों को सरलता से पार कर सकता है और इस तरह संसार में सुखी तथा शान्त बन सकता है।

जिस तरह राज्य की सुरक्षा कानून तथा व्यवस्था विभाग द्वारा की जाती है, उसी तरह ब्रह्माण्ड का यह राज्य, जिसमें यह पृथ्वी एक क्षुद्र खंड के रूप में है, प्रकृति के नियमों द्वारा सुरक्षित है। यह भौतिक

प्रकृति उन ईश्वर की विभिन्न शक्तियों में से एक है, जो प्रत्येक वस्तु के परम स्वामी हैं। इसलिए यह पृथ्वी ईश्वर की सम्पत्ति है, किन्तु हम जीव, विशेषतया तथाकथित सभ्य मानव प्राणी व्यक्तिगत तथा सामूहिक मिथ्या धारणावश ईश्वर की सम्पत्ति को अपनी बताते हैं। यदि आप शान्ति चाहते हैं, तो आपको अपने मन से तथा विश्वभर से इस मिथ्या धारणा को दूर करना होगा। पृथ्वी पर मनुष्य जाति द्वारा स्वामित्व का यह मिथ्या दावा ही पृथ्वी पर शान्ति को विचलित करने का आंशिक अथवा पूरा का पूरा कारण है।

मूर्ख तथाकथित सभ्य लोग ईश्वर की सम्पत्ति पर अपने स्वामित्व का दावा कर रहे हैं, क्योंकि वे अब ईश्वरविहीन हो गये हैं। ईशविहीन समाज में आप सुखी और शान्तिपूर्ण नहीं रह सकते। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि वे ही जीवों के समस्त कर्मों के वास्तविक भोक्ता हैं, वे ही समस्त ब्रह्माण्डों के परम स्वामी हैं और वे ही समस्त प्राणियों के शुभैषी मित्र हैं। जब विश्व के लोग इसको शान्ति के सूत्र के रूप में जानेंगे, तभी शान्ति बनी रह सकेगी।

इसलिए यदि आप तनिक भी शान्ति चाहते हैं, तो आपको अपनी चेतना को व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से ईश्वर के पवित्र नाम के कीर्तन की सरल विधि द्वारा कृष्णभावनामृत में बदलना होगा। संसार में शान्ति पाने के लिए यही मानक तथा मान्य विधि है। इसलिए हम संस्तुति करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे॥ का कीर्तन करके कृष्णभावनामय बने।

यह व्यावहारिक, सरल एवं उदात्त है। इस सूत्र को ५०० वर्ष पूर्व

भारत में श्री चैतन्य महाप्रभु ने शुरू किया और अब यह विश्व भर में व्याप्त है। आप उपर्युक्त कीर्तन की इस सरल विधि को ग्रहण करें, *भगवद्गीता* यथारूप पढ़ कर अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव करें और कृष्ण अर्थात् ईश्वर के साथ अपने लुप्त सम्बन्ध को फिर से स्थापित करें। इसका तुरन्त विश्वव्यापी परिणाम होगा—शान्ति तथा सम्पन्नता। *

* * *

प्रकृति के नियम

एक अमोघ न्याय

भीख मांगो, चोरी करो या उधार लो, रिश्वत दो या धोखा दो, कैसे भी करके धन कमाओ और खुशी मनाओ। अथवा कम से कम जीवित रहो।

किसी भी हालत में आगे बढ़ने की इस अन्दाधुन्द होड़ में, क्या हम यह सोचने के लिए ठहरते हैं, कि कदाचित हम अपने कार्यों के लिए जिम्मेदार ठहराए जाएंगे? यदि शास्त्रों में वर्णित नरकयातनाएं सच होंगी तो हमारा क्या होगा? 'प्रकृति के नियम' में, श्रील प्रभुपाद, जो बीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े तत्त्वज्ञानियों में से एक हैं, हमें बताते हैं कि, पाप क्या है और कौनसे दुष्कर्म के लिए किसे क्या दण्ड भुगतना पड़ता है। इसका निष्कर्ष अटल है—अधिकतर लोग उस भविष्य की ओर जा रहे हैं, जो बहुत सुखद नहीं है।

यह कोई मजाक की बात नहीं। कदाचित आपको यह पुस्तक पढ़नी चाहिए, और इससे पहले कि बहुत देर हो जाए, पता लगाना चाहिए कि, क्या करना चाहिए।

ISBN 978-93-82716-59-4
90000 >
9 789382 716594

PRAKRUTI KA NIYAM
RS. 20/-
118

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट